सिद्ध सम्प्रदाय

स्वरूप

एवं

साधना

डॉ० श्रीमती लक्ष्मी शुक्ला

पुस्तक-परिचय

सृष्टि को करतलामलकवत् देखने वाले सिद्ध जनों तथा उनकी साधना के विषय में समाज में जितनी जिज्ञासा और कौतूहल है उतना साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसी विचार से प्रमुख सिद्धों के काल, जीवन और साहित्य के संक्षिप्त विवेचन के साथ साधना के अन्तर्गत चक्र साधना, नाद साधना, मन्त्रयोग, कुण्डलिनी जागरण नाडी शौधन के साधन स्वरूप महामुद्रा, खेचरी योनिभुद्रा, यांगमुद्रा, अश्वनी (उन्मती) शाम्भवी एवं विपरीतकरणी मुद्राओं, मूल उड्डीयान, जालन्धर और महाबन्ध आदि की शास्त्रीय विधि पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही प्रस्तुत कृति कापालिकमत, कौलमत, तान्त्रिक मत, हठयोग साधना तथा रससम्प्राय रसायन साधना की से सम्बद्ध सामग्री का गहन विवेचन प्रस्तुत करती है। सभी सम्प्रदायों में सामान्य रूप से मान्य प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के अतिरिक्त साधना के अन्तरायों का विवेचन भी प्रस्तुत कृति के विषय हैं।

शोधार्थियों, जिज्ञासुओं एवं साधकों के लिये उक्त सभी विषयों पर अत्युपयोगी सामग्री का इसमें एकत्र संकलन उपलब्ध है।

सिद्ध सम्प्रदाय
स्वरूप और साधना

सिद्ध सम्प्रदाय
स्वरूप और साधना

लेखिका

डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी शुक्ला

भूमिका

आचार्य प्रभुदयालु अग्निहोत्री

भारतीय विद्या प्रकाशन

दिल्ली वाराणसी

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

१. १ यू० बी० जवाहरनगर, बंग्लो रोड, दिल्ली–११०००७
फोन–(०११) ३९७१५७०

२. पो० बा० ११०८, कचौड़ी गली, वाराणसी–२२१००१
फोन–(०५४२) ३९२३७६

© डॉ० श्रीमती लक्ष्मी शुक्ला

संस्करण 2000

ISBN : 81-217-0159-7

मूल्य : 150.00

मुद्रक :
ए० आर० प्रिन्टर्स,
डी-१०२, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
फोन : २२६०११३

समर्पणम्

प्रातः स्मरणीय पिता श्री
स्व० धर्मभूषण पं० मुकुट बिहारी लाल शुक्ला
एडवोकेट, आगरा
प्रातः स्मरणीया माँ
श्रीमती सत्यवती शुक्ला

बाल्यादेव शुभावहेष्टवचनैः बालिश्यनिर्मूलनैः
लब्ध्वा वर्त्मनि जीवनस्य जटिले प्रोत्साहनं स्नेहिलम् ।
यस्याप्तं मनसः समस्तलसितं स्वं सत्यवत्या समं
वन्दे तं पितरं मुकुटबिहारिं शुक्लवंशावतंसम् ॥

अलख निरञ्जन

सिद्धशास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्धान्तं सर्वसारस्य नानासङ्केतनिर्णयम् ॥

सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ॥

भूमिका

सृष्टि के प्रारम्भिक काल से ही मनुष्य में, अन्यों से ऊपर उठकर कुछ विशिष्ट दिखने की लालसा रही है। इस लालसा ने शारीरिक शक्ति के क्षेत्र में सैन्य संगठन और शासन सत्ता को जन्म दिया। सेनापति से प्रारम्भ होकर सेना मुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी नामों से विस्तार पाती हुई बहु अक्षोहिणी तक के सोपान तक पहुँची और इनके सहारे ऊपर उठती शासन शक्ति राट् (राजा), विराट्, स्वराट्, भोज, सम्राट् और एक राट् या चक्रवर्ती तक संगठित हुई। एक दूसरा वर्ग था जिसमें शारीरिक की अपेक्षा बौद्धिक क्षमता अधिक थी, उनकी योग्यता-क्रम से विद्वान्, धीर, विपश्चित्, विप्र और कवि-श्रेणियाँ बन गयीं। कुछ राजा और मुनि एक साथ थे। ये ब्रात्य कोटि में गिने गये। जिनकी दृष्टि इस लोक से ऊपर स्वर्ग और अपवर्ग पर थी उनका एक बड़ा वर्ग याज्ञिक, ऋत्विक् बना। ज्ञान को समाज में वितरित करने वालों की भी बड़ी संख्या थी। इनमें शिक्षक, उपाध्याय, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, अध्यापक, गुरु और आचार्य (उत्तरोत्तर वरीयान्) कहलाये। जो इनमें अन्तर्भूत नहीं हो पाये उन्होंने भिषक् ज्योतिषी लाक्षणिक, आङ्गविद्यक आदि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। ये सब गृहस्थ होते और, आवश्यकतानुसार अर्जन कर परिवार का निर्वाह करते थे। मातृ-पितृ-गुरु के ऋण तथा सब प्रकार के अन्य देयों से मुक्ति पा कर लोग प्रायः घरवार पुत्रों को सौंप कर सपत्नीक, अपने गाँव से बाहर निकटस्थ वन में आश्रम बना कर रहने अथवा दूरस्थ वन्याश्रमों में रहने चले जाते थे। ये वैखानस, वानप्रस्थ, तपस्वी, यति और मुनि, आदि शब्दों से संबोधित होते थे। वैखानस जटिल, चीराजिनधारी, ऊर्ध्वरेता, वनस्थ, अकृष्टपच्य नीवार, कन्द, मूल, फल भोजी या भैक्ष

सेवी, वाचंयम, और वानप्रस्थ भी मूल-फलाशी, तपशील, अग्राम्य भोजी, श्रामणकाग्नियाजी, देव-पितृ-मनुष्यर्षि पूजक, और अकालकृष्टभूमि या स्थण्डिल शायी होते थे इनके दो प्रकार थे-पचमानक, और अपचमानक ये भेद, आहार की दृष्टि से थे। पचमानक पाँच प्रकार के थे-सर्वारण्यक, वैतुषिक, कन्दमूल भक्ष, फलभक्ष, और शाकभक्ष सर्वारण्यक दो प्रकार के होते थे- इन्द्रावसिक्त (वनस्पतियों, वल्ली, गुल्म, लतादि को पकाकर खाने वाले- और रेतावसिक्त व्याघ्र, वृक, श्येन, आदि जीवों को पकाकर खाने वाले)। अमचमानकों के भी पाँच भेद थे- उन्मज्जक, प्रवृत्ताशी, मुखेनादायी, तोया हारी और वायुभक्ष। ये सब तपस्वी या तापस कहलाते थे। वानप्रस्थ या वैखानक आश्रम था ही तपश्चरण के लिये।

कुछ काल के पश्चात् जब संस्कृति का केन्द्र ब्रह्मावर्त और आर्यावर्त से नीचे दक्षिण पूर्व की ओर सरक गया और उसमें आदिवासी वनवासियों की सामाजिक और धार्मिक परम्परायें भी आ मिलीं तो जटिल वानप्रस्थियों का भी एक वर्ग जादू टोने, यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र के द्वारा समाज में पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले वनवासी पुरोहितों की तर्ज पर कुछ नया चमत्कार प्रदर्शित करने की ओर उन्मुख हुआ। इस काल में, अन्तिम तीर्थंकर से पूर्ववर्ती जैन साधु भी इनमें मिल गये। अथर्व वेद के व्रात्य सूक्त में जैन नृप-मुनि अपने साथ बड़ा तामझाम लेकर चलते दिखाये गये हैं। उनके साथ यात्रा में मागध (विरुद गायक) और पुंश्चलियाँ (वेश्यायें) भी चलती थीं। यों भी इस समय जैन मुनि वातरशन (दिगम्बर) पिंशंग केश और मलधारी होते थे। इसी समय किरात-प्रमुख कपर्दी, पिशङ्गी, जटाधारी घोर, अघोर शिव की प्रतिष्ठा हुई। पाप नाशिनी शिवा तनु वाले जलाषभेषज (मूत्र चिकित्सा के प्रवर्तक) शिव को रुद्र रूप मिला और वह गजाजिनधारी बन गये। शुक्ल यजुर्वेद की रुद्राष्टाध्यायी को अथर्व वेद के साथ मिला कर पढ़ने से हिमालयपुत्री शिवा का परिवर्तित रूप समझ में आ जाता है। दुर्गा रूप पूर्वाञ्चल की आदिवासी जातियों का दिया हुआ है। यज्ञ संस्था के पतन के बाद वैदिक जनों में शिव की महत्ता बढ़ी और बढ़ती ही गयी। देश

के दक्षिणी पूर्वी अञ्चलों में जहाँ स्मृतियों का प्रभाव नहीं पड़ पाया था और चातुर्वर्ण्य तथा चातुराश्रम्य की प्रतिष्ठा नहीं हो पायी थी, शिव के दोनों रूपों की जड़ें गहरी जम गयीं। ईसा की पहली शताब्दी में शैवों के विभिन्न दल बन गये। अथर्व शिरस् उपनिषद् में पाशुपत व्रत, पशु, पाश जैसे तान्त्रिक शब्दों का प्रयोग हुआ है और (महाभारत एवं वामनपुराणादि में शैव, काल दमन, पाशुपत और कापालिक शब्द मिलते हैं। सम्भवत: कालदमन ही कालामुख है जिनकी चर्चा भास्कर और यामुनाचार्य ने की है। ये सब माहेश्वर सम्प्रदाय थे और इन सबके मूल ग्रन्थ शैवागमों में सम्मिलित थे। दार्शनिक दृष्टि से इनके तीन वर्ग थे द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत और इनके प्रमाण ग्रन्थ थे शिव तन्त्र, भैरव तन्त्र और रुद्रतन्त्र। सम्प्रदायों में पाशुपत प्राचीनतम प्रतीत होता है। लकुलीश, जिनकी गणना शिव के बारह, अवतारों में की जाती है, इसके संस्थापक थे। माहेश्वरों की एक शाखा, वीर शैव जिन्हें लिङ्गायत भी कहते है, कर्णाटक में आज भी जीवित हैं। कापालिक, और कालामुख प्राय: लुप्त हो चुके हैं। कापालिक कपाल, कर्णिका, रुचक, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत- ये छ: मुद्रायें धारण करते थे। कालामुख कपाल में भोजन, शवभस्म से स्नान, भस्म प्राशन, लगुड धारण और सुराकुम्भ के स्थापन तथा कुछ गुह्य क्रियाओं के अनुष्ठान से दृष्ट-अदृष्ट सिद्धियों की प्राप्ति मानते थे। रसेश्वर भी पृथक् शैव शाखा है। ये लोग पिण्ड-स्थैर्य या दिव्य शरीर की प्राप्ति पर जोर देते थे। ये लोग शरीर पर पारद और गन्धक की भस्म लगाते थे क्योंकि पारद शिव का वीर्य और गन्धक पार्वती का रज है। पारद ही रस है और रस ईश्वर है। रसरत्नाकर और रसहृदय में रससिद्धि का विशद निरुपण है वीर शैव शक्ति-विशिष्टाद्वैत में विश्वास रखते थे। इस दर्शन में सम्पूर्ण जगत् महेश्वर की शक्ति का रूप है। शक्ति से भिन्न परमात्मा और परमात्मा से भिन्न शक्ति नहीं है। शक्ति और परशिव में अभेद है-

तदीया परमा शक्ति सच्चिदानन्द लक्षणा ।
समस्त लोक निर्माण समवाय स्वरूपिणी ॥

तदिच्छया भवेत् साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी।-सिद्धान्त शिरोमणि। शैव सिद्धान्त भेद-प्रधान है। इसमें शिव, शक्ति और बिन्दु ये रत्नत्रय मान्य हैं। बिन्दु का ही नाम महामाया है। शुद्ध बिन्दु को महामाया और अशुद्ध को माया कहते हैं। शिव नित्यमुक्त हैं किन्तु पशुओं (जीवों) का पाश काटने तथा ध्यान योग के लिये शरीर धारण करते हैं। क्लेशों का शमन ज्ञान और कर्म काण्ड से नहीं बल्कि क्रिया से होता है शिव की अनुग्रह शक्ति जिसे शक्तिपात् कहते हैं मल को हटा सकती है और मल की अपसृति उसका परिपाक हो जाने पर ही संभव है। गुरु केवल शिव है जो दीक्षा के द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं। मोक्षकारिका में कहा है-

दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पशु बन्धनम्
दान-क्षयण-संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता। ९६

दक्षिण भारतीय शैव सम्प्रदायों में द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों थे। आठवीं नवीं शताब्दी में शैवों का केन्द्र दक्षिण से हटकर काश्मीर बना जहाँ दो शैव दर्शनों का उदय हुआ जिन्हें स्पन्द शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहते हैं। प्रथम के प्रवर्तक वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट थे। प्रत्यभिज्ञा मत के प्रवर्तक सोमानन्द थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं शिव सूत्र और स्पन्द कारिका। उत्पलदेव का ईश्वर प्रत्यभिज्ञा सूत्र और सोमानन्द का शिवदृष्टि उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। अभिनवगुप्त का तन्त्रालोक शैव दर्शन का बृहत् कोश ही है। ईश्वर आत्मा और प्रकृति का विवेचन कराने वाले तथा शैवागमों से कुछ भिन्न और शंकर के अद्वैतवाद की ओर झुके हुए ग्रन्थ त्रिक् दर्शन कहलाते हैं। त्रिक् और शाक्तदर्शन दोनों अद्वैतवादी हैं। शिव सूत्र में कहा है-चैतन्यमात्माऽज्ञानं बन्धः। स्पन्द कारिका का कथन है

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोद्भवौ।
तं शक्तिचन्द्र-विभव-प्रभवं शंकरं नुमः॥

काश्मीर में आकर शैवदर्शन के साथ शक्त्युपासना प्रमुख रूप से

जुड़ गयी। यहाँ शैव दर्शन का बहुत विस्तार हुआ और उसके भेद-अभेदों का भी। यहीं शाक्त दर्शन का उदय हुआ। सोमानन्द ने शिव दृष्टि में कहा-

न शिवः शक्ति रहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी
शक्ति-शक्तिमतोर्भेदः शैवे जातुः न वर्ण्यते। (३-२-३)

शिव और शक्ति की इस एकता ने ही शाक्त तन्त्र को जन्म दिया। तन्त्रों में शाक्त तन्त्रों की संख्या सर्वाधिक है, यद्यपि शैवागमों का साहित्य कुछ कम नहीं है। तन्त्रों में सृष्टि प्रलय, देव पूजन, मोहन, मारण, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, विशोषण जैसी क्रियायें, पुरश्चरण और ध्यान योग सम्मिलित हैं। ऋग्वेद के वागाम्भृणी (१०-१२५) सूक्त में जिस शक्तितत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, वही शाक्त तन्त्रों का आधार है। इसका लक्ष्य है, जीवात्मा के साथ परमात्मा की अभेद स्थिति देवोभूत्वा यजेद् देवम्। इनके आचार मार्गो में दो प्रमुख हैं-समयाचार और कौलाचार। कौलाचार में चक्र या योनि की प्रत्यक्ष पूजा की जाती है और मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन को भी महत्त्व दिया जाता है। समयमार्गी चक्र की केवल भावना करते हैं और उपर्युक्त पंचरत्नों की आन्तरिक उपासना में विश्वास करते हैं। समयाचार वाले दक्षिण मार्गी और कौल वाममार्गी कहलाते हैं। वाममार्गियों का प्रमुख केन्द्र कामाख्या है तान्त्रिक पद्धति में वैष्णव तन्त्र भी महत्त्वपूर्ण हैं। वैखानस और पांचरात्र आगम इनके प्रतिनिधि हैं। आगस्त्य, काश्यप, नारद और अहिर्बुध्न्य संहितायें इसके आधार ग्रन्थ हैं। शाक्त पूजा पद्धति बहुत गोपनीय मानी जाती है। इसके आगम सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तन्त्र, यामल और डामर कहलाते हैं। शाक्त पूजा के प्रमुख केन्द्र काश्मीर, कांची और कामाख्या रहे हैं। भारत में एक बार जो शक्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ तो वह अन्य सारी पूजाओं, यहाँ तक कि शिव को भी पीछे ढकेल कर सर्वोपरि प्रतिष्ठित हो गयी। यहाँ तक कह दिया गया कि।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्,
न चेदेवं देहे न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि–सौन्दर्य लहरी।

तान्त्रिकों में शक्ति पूजा का व्यावहारिक उद्देश्य शक्ति का अर्जन था। नवीं से ग्यारहवीं सदी ई० के बीच ये लोग धुर पूर्व से लेकर समस्त असम, नेपाल, बंगाल, उड़ीसा और मध्यदेश में छा गये थे। भवभूति ने पद्मावती (छोटे राज्य) को तान्त्रिकों का बड़ा क्षेत्र, जिसमें मांस विक्रय तक होता था, बतलाया है। त्रिपुरी, खजुराहो, उज्जैन और भुवनेश्वर में तो आज भी इनके स्मारक हैं। कर्पूर मंजरी का सिद्ध योगी भैरवानन्द कहता है-

न मन्त्रो न तन्त्रं न किमपि ज्ञानध्यानं च नो किमपि गुरु प्रसादात्।
मद्यं पिवामो महिलां रमयामो मोक्षं च यामः कुलमार्गलग्नाः॥१-२२

तथा-रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा-मज्झं मसं पिज्झए खज्जए ए।
भिक्खा भोज्ज वम्मदण्डं च सज्झा कोलो धम्मो कस्य नोभादि रम्मो।१-२३

तथा-दंसेमितं विसस्त्रिणं वसुहावदूण्णं थंभेमितस्सविरविस्स रहंण भद्धे।
आणेमित्रक्ख सुरसिद्ध गणं गणाआतं नत्थि भू मिवलेए, मह जंण सज्जझम्।
– वही २५

इनका घोषित मत था-**दिट्ठो मोक्खोसुर अकेलिसुरा- रसेहिं॥** वही २४

(मुझे न तो मन्त्र का ज्ञान है, न तन्त्र का। न ध्यान जानता हूँ, न ज्ञान मुझे गुरु के प्रसाद से कुछ प्राप्त नहीं हुआ। मैं तो मद्य पीता हूँ, महिलाओं के साथ रमण करता हूँ और कौल मार्ग से स्वर्ग जाऊँगा।२२। राँड, चाँड जो भी मेरे मत में दीक्षित हुई कि मेरी धर्मपत्नी हुई समझो। फिर बस मद्य पीना, मांस खाना, भिक्षा का भोजन, और चर्मासन पर सोना। फिर भला कौल धर्म किसे अच्छा नहीं लगेगा।२३। कहो तो चन्द्र को पृथिवी पर उतार कर दिखा दूँ या सूर्य को आकाश के मार्ग में रोक

दूँ या सिद्धों-देवों की अंगनाओं को यहाँ ले आऊँ। भूगोल में ऐसा क्या है जो मेरे लिये संभव नहीं? इनका मत था कि सुख-केलि और सुरा पान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस काल में कौल तान्त्रिकों के प्रति समाज की यही धारणा थी। इस काल की प्रस्तर मूर्तियों और मन्दिरों की भित्तियों पर उकेरे गये संभोगरत मिथुनों को देख कर सामान्य दर्शक इससे भिन्न धारणा बना भी कैसे सकता था?

बुद्ध और महावीर से पहले भी उत्तर पूर्वी भारत में अनेक भिक्षु पन्थ थे इनमें वैदिक और अवैदिक वानप्रस्थ और वैखानस थे। ऐकागारिक कुटीचक थे, अपचभिक्षु थे, अर्हत् थे और थे इनसे भिन्न परिव्राजक भी। ये सब ऊर्ध्वरेता थे। मतों में आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक थे। छै शास्ता थे-संघी, गणी, गणाचार्य और तीर्थंकर। शास्ताओं में अजित केश कम्बल, पूर्णकस्सप, पकुचकच्चायन, मक्खलिगोसाल, संजयवेलट्ठिपुत्त, और निगण्ठनातपुत्त थे। निगण्ठ महावीर की ही उपाधि थी। ये सव आस्तिक थे। बुद्धनास्तिक थे। मक्खली (मस्करी) दैष्टिक थे। इनका चलाया आजीवक सम्प्रदाय काफी प्रतिष्ठित हुआ।

उपर्युक्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि ऋग्वेद के रचना काल से ही भारत में विशिष्ट चिन्तनशील लोगों का वर्ग सक्रिय रहा है। यह समय समय पर कम या अधिक भागों में बंटता रहा। सब की प्रमुख जिज्ञासा थी-आत्मबोध और दुःख-विमुक्ति। दुःख निवृत्ति के उपायों का ही दूसरा नाम था-पुरुषार्थ- अथत्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः (योगदर्शन)। सबके मार्ग अलग अलग थे किन्तु साधनों और चर्या में विशेष अन्तर नहीं था। साधना के क्षेत्र में प्राण-नियमन उनमें एक था। कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्र-भेदन, इला पिंगला और सुषुम्णा नाडियों के सम्मिलन और इनसे प्राप्त होनेवाली विभूतियों के विषय में भी एकमत्य रहा। प्राण- नियमन के विषय में तो श्वेताश्वतर उपनिषद् में विस्तृत निर्देश मिलते हैं-

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्योडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥८॥

प्राणान् प्रणीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥९॥

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले नतु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥१०॥

नीहार-धूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रुपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे॥११॥

पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥१२॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्ति प्रथमावदन्ति॥१३॥

शिर, ग्रीवा और वक्ष का उभार कर शरीर को सीधा स्थिर रखे। इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदयमें निरुद्ध करे और फिर ओंकार रूप नाव के द्वारा सारे भयंकर नदी नालो को पारकर जाय। (८)। योग साधना में साधक आहार-विहार आदि सारी चेष्टाओं को सन्तुलित रखता हुआ, श्वासों का प्रपीडन करे (ऊपर ले जाय)। फिर श्वास के सूक्ष्म हो जाने पर उसे बाहर निकाल दे। जिस प्रकार सारथि घोडों पर नियन्त्रण रखता हुआ उन्हें गन्तव्य मार्ग से ले जाता है उसी प्रकार सावधान होकर मन को वश में किये रहे।९। शुद्ध, समतल, कंकड़, बालू और अग्नि से रहित, शोरगुल से मुक्त, जल और छाया की दृष्टि से अनुकूल, नेत्रों को पीडा न देने वाले, वातरहित, गुहा आदि स्थान में बैठकर मन को ध्यान में लगाये।१०। योग में पहले कुहरा, धुआँ, सूर्य और अग्नि के सदृश तथा जुगनू, विजली, स्फटिक, मणि, और चन्द्रमा के समान बहुत से दर्शनीय पदार्थ योगी के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। ये योग की सफलता को व्यक्त

करते है।११। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों का सम्यक् उत्थान होने पर और इनसे सम्बन्धित पाँच गुणों की सिद्धि हो जाने पर योगाग्निमय शरीर की उपलब्धि होती है और तब साधक को रोग, जरा और मृत्यु से मुक्ति मिल जाती है।१२। तब शरीर में हलका पन, नीरोगता, नि:पृहता, के साथ वर्ण की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, शुभगन्ध की प्राप्ति होती है और मूत्र पुरीष की मात्रा कम हो जाती है।१३।

औपनिषदिक युग की समाप्ति पर जो बौद्ध धर्म आया उसका लक्ष्य आस्था को तर्क प्रतिष्ठ रूप देना था किन्तु वैदिक-दर्शन के समान आगे चलकर वह भी, अनेक मत मतान्तरों में विभक्त हो गया। उसकी एक-वज्रयानी शाखा ने तो विकृत होकर बौद्ध तान्त्रिकों के बीच वामाचार को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया ये लोग सारे पूर्वी भारत पर अपना प्रभाव जमाने में सफल हो गये। इन प्रदेशों में ये सिद्ध कहलाते थे। लोग इन्हें अलौकिक शक्ति सम्पन्न मानते थे। ये अपनी अलौकिक सिद्धियों और विभूतियों से अपढ़ जनता को चमत्कृत कर अपनी धाक जमाते थे। नालन्दा और विक्रम शिला इनकें केन्द्र बन गये थे बाद में पठानों और वख्तियार खिलजी के आक्रमण से त्रस्त होकर इनमें से कुछ भूटान आदि क्षेत्रों में चले गये और बाकी छिट पुट रूप में उत्तर भारत की ओर खिसक आये। चौरासी सिद्ध इन्हीं वज्र यानी बौद्धों की परम्परा में थे। इन सिद्धों ने संस्कृत और अपभ्रंश मिश्रित देशी भाषा में रचनायें कीं। इन रचनाओं का एक संकलन बौद्धगानओ दोहा नामसे डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने प्रकाशित कराया। इनसे प्राचीनतम सिद्ध 'सरह' (या सरोज वज्र) का समय सन् ७४७ माना गया है। इसी प्रकार लूइ पासन ७८० विरुपा ८४३, कण्हपा ८४३ के उपरान्त हुए। इनकी रचनायें उपलब्ध हैं। इन्होंने दक्षिण छोड़कर वाम मार्ग ग्रहण करने का उपदेश दिया। कौल कापालिकों का मूल वज्रयान में ही है। गोरखनाथ के नाथ पन्थ का मूल भी वज्र यान शाखा है। गोरक्षपा की गणना भी चौरासी सिद्धों में है। उन्होंने अपना मार्ग बदल कर स्वंय को वज्रयानियों की

अश्लील और वीभत्स क्रियाओ से दूर रखा, यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण 'शक्ति संगम तन्त्र' में कुछ श्रृंगारमयी वाणी सम्मिलित हो गयी है। गोरखनाथ पतंजलि के समान ईश्वर वादी हठयोग के प्रचारक थे। नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों में ईश्वरोपासना के साथ बाह्योपचारों की उपेक्षा की गयी है।

बस यहीं से विदुषी डॉ० लक्ष्मी शुक्ला का यह तात्त्विक अनुसन्धान प्रारम्भ होता है जिसके प्रथम अध्याय में उन्होंने सिद्धों की नामावली और संख्या पर विचार के साथ मत्स्येन्द्र, गोरख, भर्तृहरि ज्ञानदेव और गोपीनाथ प्रभृति सिद्धों के काल, जीवन और साहित्य का सप्रमाण विवेचन किया है। चक्र साधना, नाद साधना, मन्त्रयोग, कुण्डलिनी जागरण, नाडी शोधन, बन्ध, वेध के साथ कापालिक और रस सम्प्रदाय, हठयोग, तन्त्र एवं कौल मत की व्याख्या से पाठक को बहुत सी नयी जानकारी उपलब्ध होगी। हठयोग में 'ह' सूर्य और 'ठ' चन्द्र का बाचक और इला-पिंगला नाडियों का प्रतीक है। इससे इन दोनों या प्राण और अपान की साम्यावस्था का निर्माण होता है जो द्वैतभाव को नष्ट कर अद्वैत की ओर ले जाता है। नाडी शोधन के लिये धौति, वस्ति नेति, त्राटक, नौलि और कपालभांति, अनहदनाद, कुण्डलिनी के उद्बोधन के द्वारा षट् चक्रवेधन, तीन प्रमुख नाडियाँ इन सब पर सप्रमाण चर्चा, कापालिक और कौल साधना तथा इनके आचारों का रोचक भाषा में वर्णन अनेक नये तथ्यों को उजागर करता है। काफी आकर्षक है सिद्धदेह की प्राप्ति के लिये रसायन साधना, जिसने आगे चलकर व्यवसाय का रूप ले लिया। इस सदी के प्रारम्भ तक कनफटा साधु गाँवों में जाकर भस्म को सोना और सोने को भस्म बनाकर सीधी सादी स्त्रियों और बच्चों को डरा धमका कर या हाथ में रखी वस्तु को गायब कर उन्हें ठगा करते थे रसायनों में पारद की शक्ति अद्भुत है। भोज ने तो पारद से वायुयान तक उड़ाने की विधि बतलायी है। यौवन, आयु और स्वास्थ्य के संवर्धन में इसका प्रयोग गोरखपन्थी करते ही रहे हैं। घेरण्ड संहिता के अनुसार वर्णित नाना धौति क्रियाओं का वर्णन सामान्य जनों

के लिये भी परमोपयोगी है। साथ में सिद्ध साहित्य का परिचय भी ज्ञान वर्धक है।

इसमें मुद्राओं में महामुद्रा, खेचरी, योनिमुद्रा, योग मुद्रा, शाम्भवी, और विपरीत करणी की शास्त्रीय विधि, बन्धो में मूल, उड्डीयान जालन्धर, महाबन्ध के अतिरिक्त, अश्विनी, (उन्मनी) आदि मुद्राओं का घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका के अनुसार प्रतिपादन सभी साधकों के लिये लाभप्रद है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान का व्यापक विवेचन, धारणा के दो प्रकार, बारह विषय, ध्यान के लक्षण, नाम ध्यान, रूपध्यान, निराकारध्यान, मन्त्रध्यान, विचार ध्यान आदि से आगे बढ़कर समाधि के दोनों भेदों का विवेचन है।

डॉ० शुक्ला की प्रस्तुत कृति ''सिद्ध सम्प्रदाय : स्वरूप और साधना'' संस्कृत अध्ययन के क्षेत्र में सर्वथा अभिनव प्रयास है। अंग्रेजी और हिन्दी में इस तथा इससे जुडे हुए विषयों पर कुछ पुस्तकें मेरी दृष्टि में आयी थीं किन्तु इधर दो तीन दशाब्दियों में संस्कृत शोध की दिशा में कोई काम मेरी जानकारी में नहीं आया। इसलिये डॉ० लक्ष्मी की इस कृति ने मुझे बहुत सन्तोष प्रदान किया है। सारी उपलब्ध सामग्री का उपयोग करके उसे जिस सघनता और प्रामाणिकता के साथ सरल सर्वबोधगम्य किन्तु स्तरीय भाषा में लेखिका के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह अभिनन्दनार्ह है। मैं बहुत उत्साह के साथ इस गम्भीर प्रयास का स्वागत करता हूँ।

मेरा विश्वास है कि प्रबुद्ध पाठकों के द्वारा इस ग्रन्थ का उचित स्वागत होगा।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री
ई २/७३ महावीर नगर
भोपाल-४६२०१६

शारदी पूर्णिमा
२५-१०-९९

पुरोवाक्

श्री गुरूं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः॥

गोरक्ष शतक

सिद्ध पुरुषों के प्रति जिज्ञासा का भाव अत्यन्त सहज और स्वाभाविक होता है। सामान्य जनों से इतर शक्तियाँ किसी में देखने को मिलती हैं तो मन प्रश्नों से आलोडित हो उठता है- ऐसा कैसे सम्भव है? ये क्या करते हैं? क्या यह भी किसी जादूगर का खेल है? क्या ऐसी शक्तियाँ किसी को भी मिल सकती है? इस प्रकार की सिद्धियों को पाने के लिये क्या उपाय हैं? योग शास्त्र का अध्ययन करते समय ज्ञात हुआ कि सिद्धियों की प्राप्ति के कारण होते हैं—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, और समाधि।

इनमें से केवल प्रथम कारण-'जन्म' पर जीव का वश नहीं होता- अन्य उपाय साध्य तो होते हैं किन्तु सरल नहीं। जिस अभ्यास और प्रयत्नों की सिद्धियों के लिये अपेक्षा होती है उन्हें सामान्य व्यक्ति कर नहीं पाते हैं। भगवान कृष्ण ने परम सिद्धि की प्राप्ति को अत्यन्त कठिन बताया है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिदयतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

—गीता ७/३

ऐसे अपवाद स्वरूप व्यक्ति जो महान् सिद्धियॉ प्राप्त करते हैं- उनके लक्षण कुछ इस प्रकार समझे जा सकते हैं-

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं
स एव सिद्धः [योगी] स गुरुः स सेव्यः॥

–अमनस्कयोग २/४५-४६

अर्थात् जिसकी दृष्टि बिना किसी दृष्य वस्तु के ही स्थिर रहती है, बिना विशेष यत्न [कष्ट] के जिसे कुम्भक प्राणायाम सिद्ध होता है, बिना किसी रूपादि का आश्रय लिये ही जिसका चित्त स्थिर रहता है, वही सिद्ध योगी होता है, वही गुरु पद के योग्य होता है, वही सेवनीय है।

निश्चित रूप से अपनी साधना के बल पर ही ये सिद्ध जन विलक्षण शक्तियों के स्वामी बनते हैं। भारतीय दर्शन और साधना के क्षेत्र में सिद्धों की लम्बी परम्परा है। एक सम्प्रदाय तो ऐसे सिद्धों की अगणित संख्या तथा सद्यः सिद्धिदायिनी साधना के कारण सिद्धमत अथवा सिद्धसम्प्रदाय अभिधान से ही प्रसिद्ध हो गया। इसमें अद्‌भुत् व्यक्तित्व के धनी महागुरु गोरक्षनाथ जैसे परम सिद्ध हुये। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और महिमान्वित् महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारत की कोई भाषा नहीं है, जिसमें उनके सम्बन्ध में कहानियाँ और किंवदन्तियाँ न प्रचलित हों?

जहाँ तक गोरक्षनाथ जी द्वारा प्रचारित उक्त सम्प्रदाय की साधना का प्रश्न है-वे साकार और निराकार दोनों स्वरूपों के उपासक हैं- विशेष नियमों के बन्धनों से परे रहकर भी नियमों को स्वीकार करते हैं, उनकी साधना पद्धति में् किसी उपकरण अथवा आडम्बर की आवयकता नहीं वह केवल ध्यानाधारित होती है, फिर भी सारे भारत में उनके द्वारा मंदिरों में षोडषोपचार पूजन होता है। ऐसी विशिष्ट साधना को केवल गुरु से ही जाना जा सकता है। ऐसा माना गया है कि ग्रंथों में किसी भी

साधन की विधि बतलानें से अनाचार बढ़ने की सम्भावना रहती है। शास्त्र पढ़कर साधना की विधि को ठीक से नहीं जाना जा सकता। वह तो गुरु मुख से ही जानी जाती है। इस कारण साधना के गुप्त एवं सूक्ष्म तत्त्व तो प्रस्तुत शोध प्रबंध में उजागर नहीं हो सके हैं किन्तु विविध शास्त्रों के माध्यम से, प्रमुख महन्तो, साधुओं, संतो से हुई चर्चा के माध्यम से तथा गुरु कृपा और अनुमति के आधार पर जितना कथनीय रहा है, संकलित करने का विनम्र प्रयास किया है।

इस कार्य को सम्पन्न कराने में जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है। सर्वप्रथम तो मैं धन्यवाद देना चाहती हूँ विश्व विद्यालय अनुदान आयोग की शोध कार्यो के लिये आर्थिक सम्बल प्रदान करने की योजना को जिसके कारण प्रेरणा भी प्राप्त हुई और साहाय्य भी। इस योजना की विधिवत् जानकारी देने तथा प्रारम्भिक चर्चा में सहायक एवं दिग्दर्शक रहे डॉ० हीरालाल जी शुक्ल, भोपाल, मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। सिद्ध सम्प्रदाय अकादमी, गोवर्धन [मथुरा] के अध्यक्ष योगिराज श्री शैलेन्द्र शर्मा के साथ हुई सार्थक चर्चा तथा अत्युपयोगी मार्गदर्शन इस ग्रन्थ की रचना में विशेष सहायक रहे हैं, उनके प्रति प्रणाम पूर्वक कार्त्तग्य निवेदित करती हूँ। श्री गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर के महन्त अवैद्यनाथ जी भी प्रणम्य हैं जिन्होंने मन्दिर पुस्तकालय में न केवल मेरे अध्ययन हेतु समस्त सुविधायें उपलब्ध करायीं अपितु आतिथ्य एवं आशीर्वाद भी प्रदान किया। श्री अलखनाथ मन्दिर तथा श्री भैरोंनाथ मन्दिर बरेली के माननीय महन्तों से और अन्यान्य सिद्धों, साधुओं, क्रियायोगी सन्त वी० लाहिरी जी वाराणसी से उनकी साधना पद्धति और उसकी विशेषताओं पर उपयोगी चर्चा कर लाभान्वित हुई हूँ। आप सबको नमन करते हुए हार्दिक धन्यवाद निवेदित करती हूँ। साथ ही राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय एवं हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, त्रिदण्डिदेव संस्कृत महाविद्यालय अयोध्या, श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली तथा दिल्ली

विश्वविद्यालय दिल्ली के पुस्तकालयों के ग्रंथपालों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मुझे वाञ्छित सामग्री संकलन की सुविधायें सुलभ करायीं। म०ल०बा० महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० ए.के. सक्सेना की सदाशयता तथा शैक्षणिक प्रगति में सदैव साधक होने के कारण मेरे मार्ग में किसी प्रकार की प्रशासनिक बाधा नहीं आ सकी मैं उनकी ऋणी हूँ। भूगोल विभाग के अध्यक्ष प्रो. बी. पी. सिंह ने शोध सम्बन्धी तकनीकी एवं प्रशासकीय नियमों का समय समय पर ज्ञान कराके मुझे उपकृत किया है।

किन शब्दों में आभार निवेदन करूँ आज छयासी वर्ष की आयुष्य तक निरन्तर साहित्य साधना में संलग्न, देश के अग्रगण्य मनीषी, भारत के महामहिम राष्ट्रपति जी द्वारा सम्मानित संस्कृत साहित्य एवं विभिन्न शास्त्रों के अप्रतिम विद्वान् अपने आचार्य डॉ० प्र०द० अग्निहोत्री जी का, जिनकी कृपा और प्रेरणा से जीवन सदैव उपकृत रहा है। दि० १५-९-९९ को जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित आपके सहस्रचन्द्री महोत्सव एवं अभिनन्दन समारोह में ग्वालियर पधारने के समय आचार्यवर ने मुद्रण-प्रक्रिया के चलते प्रस्तुत कृति का अवलोकन किया और भूमिका लेखन हेतु सहर्ष सहमति प्रदान कर दी, जिसके परिणाम स्वरूप इस ग्रन्थ का महत्त्व सहस्रगुणा संवर्धित हुआ है। आपकी टिप्पणी को मैं प्रमाणपत्र मानती हूँ। कृतज्ञता ज्ञापन हेतु समुचित शब्दसम्पदा के अभाव में केवल प्रणति निवेदित कर ऋणी बने रहना भी मेरा सौभाग्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना एवं प्रकाशनकाल में मेरे साथ महत्त्वपूर्ण सहयोग किया है मेरी बहन मनोरमा शुक्ला ने, उस पर कृपा हेतु परम सत्ता से प्रार्थना करती हूँ। साथ ही सन्दर्भ ग्रन्थ सूची बनाने में दिये सहयोग हेतु पुत्री भावना के प्रति हृदय आशीराशि से संवलित है। अन्त में उन सभी ज्ञाताज्ञातमहानुभावों के प्रति विनम्र आभार मानती हूँ जिनके प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग से इस शोध कार्य को ग्रंथ का प्रस्तुत स्वरूप प्राप्त हो सका। मेरे सतीर्थ्य बन्धु डॉ० कमला प्रसाद पाण्डेय ने

इस ग्रन्थ का अध्ययन कर इसके प्रकाशन की नितान्त आवश्यकता पर बल दिया। साथ ही अपने मित्र श्री किशोर चंद जैन को तत्सम्बद्ध अनुशंसात्मक पत्र लिखकर मुझे अपना ऋणी बना दिया। श्री जैन ने भी डा० पाण्डेय के आग्रह पर सकारात्मक प्रतिक्रिया स्वरूप इसके प्रकाशन का भार वहन किया है। मैं श्री जैन तथा भारतीय विद्या प्रकाशन के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

साधना तथा साधना की सिद्धि हेतु एक मात्र सम्बल होती है गुरु कृपा, वही जीवन को सार्थक बनाती है। अतः उसी की सतत आकांक्षा है।

शुद्धाभ्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरू सेवया।
गुरू प्रसादात्तत्रैव तत्त्वज्ञानं प्रकाशते॥

विनयावनता
लक्ष्मी शुक्ला

ग्वालियर
दि० १६.३.९८

विषयानुक्रमणिका

भूमिका vii-xvii

पुरोवाक् xviii-xxii

अध्याय-प्रथम - **प्रस्तावना**

सिद्ध-अर्थ और लक्षण-महान् सिद्धों का परिचय तथा इतिहास-आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गोरक्षनाथ की ऐतिहासिकता, चौरंगीनाथ, कानिफानाथ, जालन्धरनाथ, गहनीनाथ, भर्तृहरिनाथ, अजयपाल, घोड़ाचोली, चरपटनाथ, दत्तात्रेय, नागार्जुन, विरूपाक्ष, रतननाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ- सिद्धों की संख्या। तत्सम्बन्धी विभिन्न मत।

१-३०

अध्याय-द्वितीय- **सिद्धमत एवं साहित्य**

सिद्ध अथवा नाथ सम्प्रदाय- हठयोग- तान्त्रिक सम्प्रदाय-कौलमत-कापालिक मत- रससम्प्रदाय- सिद्ध साहित्य के ग्रंथो का परिचय।

३०-६३

अध्याय-तृतीय- **साधक के लिये निर्दिष्ट आचार**

साधक के आचार-षट्कर्म-धौती, वस्ति,

नेति, नौली, त्राटक, कपाल भाति-साधक का भोजन- व्रतोपवासादि- वाणी का तप-यम-ब्रह्मचर्य-नियम।

६४-८३

अध्याय-चतुर्थ- **षडंग योग- बाह्य एवं अन्तः साधन**

बाह्य साधन- आसन-सिद्धासन, पद्मासन-प्राणायाम-मुद्राएं-खेचरी मुद्रा, योनिमुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, विपरीत-करणीमुद्रा, मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध, महाबन्ध-महावेध- शक्ति चालिनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा-अश्विनी मुद्रा, उन्मनी मुद्रा।

अन्तः साधन- प्रत्याहार- धारणा-ध्यान- नाम ध्यान, रूपध्यान, निराकार ध्यान, स्वरूपध्यान, विचाररूप ध्यान, समाधि, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात।

८४-१२४

अध्याय-पञ्चम- **उपसंहार**

सिद्ध सम्प्रदाय की साधना और उसका स्वरूप-पञ्चमकार साधना- अजपाजप-नाद साधना- साधना के क्षणों में विश्राम-गुरुतत्त्व-सिद्धमत में साधना के अन्तराय।

१२५-१६३

अध्याय-प्रथम

प्रस्तावना

'सिद्ध' शब्द के विविध अर्थ होते हैं, एक ओर सिद्धियों का अर्जन करने वाला सिद्ध कहलाता है, जीवन्मुक्त अवस्था में रहने वाला साधु सिद्ध होता है, वह उन्मनी अवस्था में रहता है अर्थात् संसार में रहकर भी नहीं रहता उसकी दृष्टि कहीं शून्य में लगी रहती है संसार में उसी प्रकार रहता है यथा जल में कमल। दूसरी ओर किसी नदी के किनारे रहने वाले या पर्वतीय जाति के लोग भी सिद्ध कहलाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी अपने को सिद्धों में कपिल मुनि कहा है[१]। विविध ग्रंथों में सिद्धों की विविध कोटियाँ वर्णित हैं। जिनमें रससिद्ध, बौद्धसिद्ध, जैन सिद्ध और नाथ सिद्ध प्रमुख हैं। पुराणों में भी इनकी चर्चा है। इनका निवास स्थान भवलोक बताया गया हैं। कहीं-कहीं अन्तरिक्ष को भी सिद्धों का स्थान बताया गया है। सिद्धलोक की सत्ता प्राय: सभी पुराणादि में स्वीकार्य है। ये सिद्धजन विशेषकर नाथसिद्ध कायसिद्ध होते हैं अर्थात् अपनी देह को सिद्ध कर वे जन्ममरण से मुक्त बना लेते हैं और जब चाहें सूक्ष्म शरीर धारण कर सर्वत्र भ्रमण कर सकते हैं। भूलोक में इनका स्थान हिमालय प्रान्त तथा आन्ध्र-प्रदेश में श्रीपर्वत विशेषरूप से प्रसिद्ध है। श्री सी.सी.वैद्य ने इनका निवास स्थान हिमालय का दक्षिणी ढ़ाल बताया है। वाल्मीकि द्वारा रचित कहलाने वाले 'गंगाष्टक स्तोत्र' में निर्मल गंगाजल में प्रतिदिन स्नान करनेवाली ऊँचे स्तनों वाली स्त्रियों में गंधर्व, अमर किन्नरों की भाँति सिद्ध-वधुओं भी का उल्लेख मिलता है-

---

१. श्लोक ११,१२,२३.

गन्धर्वामर सिद्धकिन्नर वधू, तुङ्गस्तना स्फालितम्।
स्नानाय प्रति वासर भवतु मे गङ्गाजलं निर्मलम्॥[१]

सिद्धजन ऊर्ध्वरेता होते हैं। महाभारत में भी इनकी चर्चा है।[२] आगम सम्मत 'अद्वय' में द्वय का निषेध नहीं अपितु अन्तर्भाव है। दो का नित्य सामरस्य है, सिद्धमतों में आगमों का अद्वय ही स्वीकृत हुआ है। वह जड़ और चेतन का आत्यन्तिक विरोध नहीं मानता क्योंकि जब इनमें विरोध होगा तो देहसिद्धि नहीं हो सकती है और जब तक देहसिद्धि की प्राप्ति नहीं होगी तब तक परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यह तो सत्य है कि सिद्धों ने अपनी साधना विशेष से उस परमपद का अनुभव अवश्य किया, जिसके परिणामस्वरूप लोगों ने उन्हें सिद्ध कहना प्रारम्भ किया था।

'सिद्ध' के लक्षण कुछ इस प्रकार के होते हैं ब्रह्मानन्द में लीन वह मद्यप जैसा दिखता है क्योंकि अपनी ही मस्ती में रहता है। उसकी आँखें चढ़ी-चढ़ी सी रहती हैं। दूसरे लोक में खोया सा रहता है। मोह ममता से दूर रहता है, देह में भी ममत्व नहीं रहता । दुःख सुख की अवस्था जिसे विचलित नहीं करती है। सेवा का भाव भरपूर रहता है। सदैव निरञ्जन के ध्यान में डूबा रहता है, भोग उसे आकृष्ट नहीं करते। छल, कलुष, क्रोध, अभिमान और क्षोभ आदि उसे स्पर्श नहीं करते हैं- सिद्धियाँ जिसके पास निवास करती हैं। न उसे स्वर्गिक सुख की चाह होती है न ही प्रलय के ताण्डव का त्रास। ऐसा समत्व मय जीवन जीने वाले सिद्ध पुरूष का यश देवगण भी गाते हैं। वह सहज ध्यान में मग्न हो, सहज में डूबकर सहजभाव से ही रहता है, उसके जीवन में सहज ही भगवान का ध्यान अपने आप निःशब्द भाव से ध्वनित होता रहता है। सिद्धावस्था में अनहद नाद सुनाई पड़ता है। उसी में अपनी चित्तवृत्ति को लीन करके स्थिर रहता है। 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया,

---

१. देखिये-बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलकः पं. परशुराम चतुर्वेदी पृ०-११०.
२. शान्तिपर्व, अध्याय ६१, श्लोक ६ ।

अर्थात् जीवन भर ब्रह्मचिन्तन में ही समय बिताता है, स्वरूपानुसन्धान में ही लगा रहता है सारी प्रवृत्तियों का त्याग करके ब्रह्माकार वृत्ति का अभ्यास करता हुआ निर्विकल्प स्थिति में रहता है। सर्वथा निःसंग होकर विचरण करता हुआ सब प्रकार की भेद बुद्धि त्याग कर खुदमस्ती और खुदपरस्ती में ही मस्त रहता है।

वस्तुतः सिद्धि का आविर्भाव नहीं होने तक साधक यथार्थ योगी नहीं हो सकते। सिद्धि के आविर्भाव में यद्यपि जन्म, औषधि, तपस्या मंत्र और समाधि को कारण बताया गया है, परन्तु समाधि से भिन्न उपायों से जिन तथाकथित सिद्धियों का उदय होता है वे सब साधन जन्य, कल्पित, अनित्य और अल्पवीर्य ही होती हैं। योगमार्ग में पूर्णता [समाधि सिद्धि] प्राप्त करने से जिस स्वाभाविक आत्मविभुति का आविर्भाव होता है, वह नित्य और महावीर्य होती है। उसे इच्छा शक्ति कह सकते हैं।

'योग शिखोपनिषद्' में उसे 'इच्छारूपा' कहा गया है। दीर्घकालीन साधना से वासना जाल कट जाने पर आत्मनिष्ठ योगी इस इच्छारूपा महासिद्धि को प्राप्त करते हैं। सिद्धों के कथन हैं कि सिद्धि से ही मुक्त और बद्ध का परिचय मिलता है। जो जीवन्मुक्त हैं, उनमें अलौकिक गुण अवश्य ही होगा, वही उनकी पहचान होगी। आत्मज्ञान स्वानुभववेद्य होने से दूसरों के लिये साक्षात् रूप से उसे जानने का उपाय नहीं। सिद्धि ही बद्ध मुक्त के भेद निर्णय का एकमात्र उपाय है। कहा गया है-

सिद्धिभिर्लक्षयेत् सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च।
अलौकिकः गुणस्तस्य. कदाचिद् दृश्यतो ध्रुवम्।
सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं तु लक्षयेत्।।[१]

हठयोग और राजयोग दोनों में यह बात स्वीकृत है कि स्वदेह में छः चक्र, सोलह आधार, तीनलक्ष्य और पांच आकाश का पता नहीं पाने तक

---

१. योगशिखोपनिषद् प्रथम अध्याय।

सिद्धि लाभ की आशा नहीं, अतः सिद्धों को उपर्युक्त ज्ञान होना अनिवार्य माना जा सकता है।

महान् सिद्धों का परिचय तथा इतिहास :

आदिनाथ :

आदिनाथ सिद्ध अथवा नाथमत के आदि गुरु हैं आदिनाथ यह नाम शिव का पर्याय माना गया है और सिद्ध सम्प्रदाय की उत्पत्ति साक्षात् शिव से मानकार उसकी प्रचीनता ही नहीं अनादिकालीनता का प्रतिपादन हुआ है। ये परम शिवस्वरूप हैं। साम्प्रदायिक ग्रंथों में इनका प्रथम स्थान है। यही लिंगायत, पाशुपत तथा अन्य शैव सम्प्रदाय के भी गुरु माने जाते हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार शिव ने १८ सम्प्रदाय चलाये और गोरक्ष ने १२ दोनों को तोड़कर आज की १२ पंथी शाखा बनी, इसमें ६ शिव तथा छः गोरक्ष की हैं। सभी के आदि गुरु आदिनाथ ही माने गये हैं। नवनाथ कथा में आदिनाथ का प्रथम स्थान है। उपासना, योगाभ्यास, संसार के संयोग वियोग दो रूपों तथा भक्ति और ज्ञान पर समान रूप से बल देने तथा समभाव का उपदेश करने के कारण आदिनाथ सर्वप्रथम गुरु, महागुरु और महायोगी के रूप में स्वीकृत हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ :

नाथ परम्परा का प्रारंभ आदिनाथ से माना जाता है और आदिनाथ का अर्थ शंकर से किया जाता है वे देव गुरुओं में आते हैं। उनके शिष्य हुए मत्स्येंन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ । मानव गुरुओं में ये ही प्रथम गुरू कहलाये। ये सिद्ध सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रसिद्ध और चर्चित सिद्ध गोरक्षनाथ के गुरू थे। नेपाली जनश्रुतियों में इन्हें अवलोकितेश्वर का अवतार माना गया है। नाथ परम्परा के आदि गुरु होने के साथ ही ये कौलाचार के भी सिद्ध पुरूष हुए। कश्मीर के शैवागम में भी इनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इस प्रकार कश्मीर से नेपाल तिब्बत

और आसाम तक सम्पूर्ण उत्तरभारत में इनका नाम एक महान् सिद्ध के रूप में प्रसिद्ध है। इसी कारण इनके नाम से मिलते जुलते कुछ ध्वन्यन्तर के साथ बहुत से रूप मिलते हैं यथा- मीन, मीनों, मीनपा, मीनपाद, मच्छध्ननाथ, मच्छध्नपाद, मच्छेंद्पाद, मच्छिन्द्रनाथपाद, मच्छेन्द्र, मछन्दर। ये सब अभिन्न थे या भिन्न व्यक्ति यह अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है 'मीननाथ' नाम पर अधिक शंका है क्योंकि कहीं तो[१] यह मत्स्येन्द्रनाथ के लिए प्रयुक्त जान पड़ता है और कही[२] उनके पुत्र के नाम के रूप में उल्लिखित है इन विवादों के होते हुए भी, जहाँ तक गोरखनाथ का गुरु होने का प्रश्न है इसमें किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं है। मत्स्येन्द्रनाथ से सम्बन्धित कथाओं को विद्वानों नें ''कौलज्ञाननिर्णय'', ''गोरक्षविजय'' 'मीन चेतन', 'नेपाल,' 'योगसम्प्रदायाविष्कृति', 'बुद्धपुराण', 'नाथचरितकथा' आदि स्रोतों से लिया है और उनके आधार पर अनेक निष्कर्ष निकाले गये हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ का नाम बंगाल में बहुत प्रचलित है, उनका जन्म पूर्वी बंगाल या असम में ब्रह्मपुत्र से घिरी हुई द्वीपाकार भूमि पर माना जाता है और उन्होंने आसाम के कदली देश [त्रिया राज्य] की यात्रा की थी यह कदली देश योगिनियों के देश के रूप में प्रसिद्ध है, जहाँ 'योगिनी कौलमार्ग' की साधना चलती थी। मत्स्येन्द्रनाथ वहाँ कौलमार्ग प्राप्त करने गये थे। वहाँ की राजकुमारी मैनाकिनी ने अपने प्रेमपाश में उन्हें आबद्ध कर लिया और वे उसके साथ बारह वर्ष तक रहे, वहाँ उनका एक पुत्र 'मीनानाथ' भी मैनाकिनी से जन्मा। उसी समय उन्होंने कौलज्ञान प्राप्त किया जो एक प्रकार की वाममार्गी साधना थी। यह सिद्धामृत मार्ग के अन्तर्गत स्वीकृत है और इसमें नारी का सहयोग, साहाय्य, संसर्ग

---

१. (१)वर्णरत्नाकर (२) तंत्रालोक की जय द्रथ कृत टीका कौलज्ञान निर्णय आदि।

२. (१) श्री गोरखनाथ चरित्र-डॉ० चमनलाल गौतम (संस्कृति संस्था) (२) हठयोग प्रदीपिका, (३) योगिसम्प्रदायाविष्कृति आदि।

अनिवार्य था। मत्स्येन्द्र का यह मार्गबौद्धों के स्वानुकूल साधनामार्ग से भिन्न था। यद्यपि बहुत सी बातें समान थीं। इसमें पंचमकारों का प्रयोग था पर वे पंचपवित्र कहे जाते थे और इनका प्रयोग मत्स्येन्द्र के ग्रंथों में रूपकात्मक अर्थ में ही हुआ हैं। उनके 'अकुलवीरतंत्र' मे बौद्धों को स्पष्ट रूप से मिथ्यावादी और मुक्ति का अपात्र घोषित किया गया है।

गोरखनाथ अपने गुरु को बड़ी युक्ति से कदलीदेश से वापिस लाये और उन्हें पूर्ववर्ती साधना की महत्ता का ज्ञान कराया जो संयम प्रधान योगमार्ग था और पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित था।

मत्स्येन्द्रनाथ के ग्रंथ ''कौलज्ञान निर्णय'' में शिव को शक्ति के बिना शव कहा गया है। दोनों अविभाज्य हैं और उनमें अविनाभावसंबंध है। 'कौलोपनिषद्' के आधार पर शक्ति शिव की सृष्टि की इच्छा, 'सिसृच्छा', है। यहीं शिव की इच्छारूपा, चिद्रूपा और क्रियारूपा शक्ति है अर्थात् वह त्याज्य नहीं है। अद्वैतवादी होते हुए भी जगन्मिथ्यात्व को न स्वीकारना इनकी विशेषता है। यही सिद्धान्त गोरखनाथ को भी स्वीकार्य है। साथ ही मत्स्येन्द्रनाथ के ग्रंथों में उल्लिखित शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, विद्या, कला, राग, काल, नियति, और जीव नामक बारह तत्वों के साथ सांख्य के चौबीस तत्त्वों को भी मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ स्वीकार करते हैं।

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह के आधार पर कहा जा सकता है कि योगमार्ग और कौलमार्ग के लक्ष्य में कोई भेद नहीं है। अन्तर इतना है कि योगी पहले ही अन्तरंग साधना करने लगता है परंतु कौल तान्त्रिक पहले बहिरंग साधना करने के बाद अंतरंग साधना में प्रवृत्त होता है वज्रोली, सहजोली जैसी साधनाएं कौलमत मे स्वीकृत हैं किन्तु नाथसम्प्रदाय में उन्हें केवल ज्ञान के लिये उपयोगी माना गया है क्रिया के लिये नहीं।

कौलज्ञान के वे अधिकारी होते हैं जो कुल और अकुल में भेदज्ञान रखने वाले हैं और अकुल वीर साधना अद्वैतज्ञान वालों के लिये है, यह साधना द्वैत भावना से अतीत है। इसमें ध्यान, धारणा, प्राणायाम आदि की

आवश्यकता नहीं होती है यह मत्स्येन्द्र का सिद्ध मत है जिसे छोड़कर वे कदली देश गये थे इसमें कौलमार्ग की समस्त विधियों की कोई आवश्यकता नहीं होती, इसका प्रचार उन्होनें कदली देश से लौटने के बाद पुनः किया था। कुल और अकुल दोनों साधनाओं में अंतर इस प्रकार समझा जा सकता है कि "योगी योग साधना में आरंभ से ही अन्तरंग साधन में प्रवृत्त होता है"।

मत्स्येन्द्रनाथ का नेपाल में आज भी बहुत सम्मान है वहाँ देवी पाटान में उनकी मूर्ति की पूजा होती है और रथयात्रा का उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। वे नेपाल के संरक्षक देवता माने जाते हैं। मत्स्येन्द्र यद्यपि शैव थे, नेपाल में उनकी अर्चना चतुर्थ बौद्धावतार 'अवलोकितेश्वर' के रूप में की जाती है साथ ही उनका शैव स्वरूप भी पूजा जाता है क्योंकि नेपाल में शैव-मत का प्रचार उन्हीं के द्वारा हुआ था। इस बात में कोई शंका नहीं है कि शैवमत के प्रचारक के साथ ही वे योगिनी कौलमार्ग के प्रवर्तक भी थे। इस प्रकार शैव और शाक्त दोनों पंथो से आप प्रभावित रहे। प्रारम्भ में ये तन्त्राचारी, वामाचारी, पञ्चमकारी तथा भोगवादी थे। कालान्तर में गोरक्षनाथ की प्रेरणा से आप सिद्धमत के आदि आचार्य बने। आपकी संस्कृत भाषा में लिखी नौ रचनायें प्रसिद्ध हैं। 'नवनाथ' में आपको मायारूपी बताया गया है, उसमें इनका सात्त्विक आचरण वर्णित हैं। इनकी कथा स्कन्धपुराण[२] तथा नारदपुराण में मोहिनी वसु संवाद क़े रूप में पायी जाती है।

पुराणों में आपके नाम का उल्लेख आपके स्थितिकाल को बहुत प्राचीन सिद्ध करता है किन्तु ऐतिहासिक परम्परा में विशेषकर आपके हिन्दी भाषा में प्राप्त ग्रंथों के कारण आपको ग्यारहवीं शताब्दी से कुछ पूर्व हुए, ऐसा माना जाता है।

---

१. गोरखनाथ- नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० ४४ ।
२. नागर खण्ड अध्याय २६३ ।

गोरक्षनाथ :

आपका नाम सिद्ध अथवा नाथसम्प्रदाय के संगठनकर्ता के रूप में प्रथित है। आपने देश में प्रचलित पुराने सांख्य योगवादी तथा बौद्ध, जैन और शाक्तादिमतों को योगमार्ग में संगठित किया। वाममार्गी कौलमत को दक्षिणमार्गी बनाया। काया को तीर्थ तथा हठयोग को उसकी अमरता का साधन बताया। सिद्ध सम्प्रदाय तथा पुराणों में आपको अनादि माना गया है परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका समय शंकराचार्य से रामानुजाचार्य के मध्य निर्धारित किया जाता है। नवनाथ कथा में इनको वासुदेव, शिवशंकर, सच्चिदानंद, सर्वव्यापक, तथा तन्त्रेश्वर आदि नामों से सम्बोधित किया गया है इनके विविध नाम विविध सूचियों में दृष्टव्य हैं। इनके नाम के अंत में 'नाथ' के साथ 'पा' उपाधि भी मिलती हैं। नवनाथों में आपका नाम प्रमुख हैं।

नवनाथ कथा में आपका नाम तथा एक स्तुति भी है[१] चौरासी सिद्धों की कथा में भी आपके जीवनादि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[२] आपका नाम तिब्बत तथा नेपाल में भी पर्याप्त समादर के साथ प्रसिद्ध है। इन पर्वतीय प्रदेशों के लोगों को 'गोरखा' सम्बोधन गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय में दीक्षित लोगों की ओर संकेत करता है। आपके नाम से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी में अनेक रचनाऐं प्राप्त होती हैं। इनमें से संस्कृत में सिद्धसिद्धान्त पद्धति तथा हिन्दी में गोरखबानी विशेष प्रामाणिक रचनाएं हैं गोरखबानी में इनकी १४ रचनाओं का संकलन हैं। नाथ सम्प्रदाय में आपका व्यक्तित्व सर्वाधिक व्यापक है। आपका नाम भारत के अतिरिक्त नेपाल, तिब्बत, चीन, लंका, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान आदि देशों में भी आदर के साथ लिया जाता है।

साम्प्रदायिकों नें 'गोरक्ष' नाम की अनेक प्रकार से व्याख्याएं दी हैं गोरक्षनाथस्तोत्र में कहा गया है 'ग' कार गुण संयुक्तः, 'र' कार रूप-

---

१. नवनाथ कथाः मुक्तिनाथ [गुजराती भाषा], पृ० ४६ ।

२. वही।

लक्षणं 'क्ष' कारेण अक्षयब्रह्म श्री गोरक्ष नमोस्तु ते। 'गोरक्षोपनिषद्', में दो स्थलों पर दो भिन्न-भिन्न व्याख्याएं मिलती हैं। प्रथम के अनुसार गोरखनाथ अन्तर्यामी होकर संसार के जीवों की इन्द्रियों [गो] की रक्षा करते हैं, दूसरी व्याख्या के अनुसार 'गो' शब्द का अर्थ वाक् ब्रह्म हैं। 'र' का अर्थ है 'रक्षा' करते हैं। 'क्ष' का अर्थ है 'क्षयरहित' अर्थात् गोरखनाथ अक्षय वाक् ब्रह्म की रक्षा करते हैं। 'गोरक्ष शब्द निरुक्ति' में कहा गया है गां रक्षतीति गोरक्षः, गवां रक्षः गोरक्षः -यावत् गोपदवाच्य की जो रक्षा करता हो उसे गोरक्ष कहते हैं।

गोरक्षनाथ के चरित्र पर पौराणिक प्रभाव इतना अधिक है कि उसके भीतर तथ्य को खोजपाना बहुत कठिन है। शिव पुराण में उन्हें शिवावतार माना गया है। 'गोरक्षगीता' में वर्णित है कि इन्द्रमणी के पातिव्रत की रक्षा करने में गोरखनाथ ने देवगुरू ब्रहस्पति की सहायता की थी।

'मार्कण्डेय पुराण' में मार्कण्डेय और मत्स्येन्द्रादि के द्विविध हठयोगी नवनाथों के वर्णन है। 'स्कन्दपुराण' के हिमवतखण्ड मे विरूपाक्ष तीर्थयात्रा के प्रकरण के माध्यम से गोरखनाथ की साधनात्मक असाधारणता, चारित्रिक उच्चता, हठयोगाचार्यता की ओर संकेत किया गया है।

गोरक्षनाथ की ऐतिहासिकता :

गोरक्षनाथ मतस्येन्द्रनाथ के शिष्य थे और उन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से दशम शताब्दी के बाद का माना जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ का समय दशम शताब्दी तक निर्धारित किया जाता है।

गोरक्षनाथ के शिष्य हुए गैनीनाथ और उनके निवृत्तिनाथ जो संत ज्ञानेश्वर के बड़े भाई थे। निवृत्ति नाथ ज्ञानेश्वर से मात्र दो वर्ष बड़े थे, किन्तु उन्हीं ने ज्ञानेश्वर को नाथसम्प्रदाय में दीक्षित किया । ज्ञानेश्वर का समय सर्व ज्ञात है उन्होंने गीता पर 'ज्ञानेश्वरी' टीका सन् १२९० ई० में लिखी थी। ज्ञानेश्वर ने स्वयं लिखा है कि सन् १२९६ ई० में उनकी

प्रार्थना पर २१ वर्ष की आयु में उन्हें समाधि का अनुभव कराया गया। अतः उनका जन्म समय १२७५ ई० सिद्ध होता है। यदि हम गुरु और शिष्य के मध्य १०० वर्ष का अन्तराल भी स्वीकार कर लें तो गोरखनाथ का समय ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित हो पाता है।

निवृत्तिनाथ का जन्म	१२७३ ई०
ज्ञानेश्वर का जन्म	१२७५ ई०
गैनीनाथ का समय	११७५ ई०
गोरखनाथ का समय	१०७५ ई०

इस आधार पर उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का समय अधिकाधिक और एक शताब्दी पूर्व अर्थात् दशम शतक माना जा सकता है।

गोपीचंद्र :

गोपीचंद्र को गोविन्दचन्द्र भी कहा गया है। ये बंगाल के राजा थे। इनके पिता थे राजा मानिकचन्द्र जो धर्मपाल के भाई थे। पाल साम्राज्य का बंगाल में ग्यारहवीं शताब्दी में अन्त हुआ। पालों के राज्य में योगियों का उदय हुआ और मानिकचन्द्र की पत्नी मयनावती गोरक्षनाथ की शिष्या थीं। इन्हीं के उपदेश से उनके पुत्र गोपीचन्द्र को वैराग्य हुआ। ये जालन्धर नाथ के शिष्य हुए और सारंगी के आविष्कारक बने। इनके गीतों में नाथयोग की साधना तथा वैराग्यभाव है। जोधपुर दुर्ग के पुस्तकालय की अनेक पाण्डुलिपियों में इनसे सम्बद्ध अनेक कहानियाँ लिखी हैं। डॉ० जोशी ने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय : उदय एवं विस्तार' में इनकी १९ सब्दियों को प्रकाशित किया है। उनके आधार पर आप गोरक्ष के शिष्य और चर्पटीनाथ के गुरुभाई सिद्ध होते हैं। इनकी कर्मभूमि मालवा, बंगाल, गुजरात, पंजाब, उज्जैन आदि रही है। भर्थरी साधु आज भी इनकी रचनाओं को सारंगी बजा कर गाते हुए फेरी लगाते हैं। सारे भारत में नाटक बैले, प्रसिद्ध चित्र और आज के चलचित्रों तक

में गोपीचन्द्र के गृहत्याग को दिखाया जाता है। इनका वैराग्य भी गौतम बुद्ध के गृहत्याग जैसा ही हृदयावर्जक है गोपीचन्द्र ने राजा हरिश्चन्द्र, जो ढाका जिले में सांमत थे, की दो पुत्रियों से विवाह किया था। ये हरिश्चन्द्र ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे।

यदि यह बात स्वीकार की जाये कि गोपीचन्द्रं की माता मयनामती गोरक्षनाथ की शिष्या थीं, तो मयनामती और गोपीचन्द्र दोनों ही ग्यारहवीं शताब्दी के बहुत बाद के नहीं माने जा सकते हैं।

चौरंगीनाथ :

चौरंगीनाथ गोरक्षनाथ के गुरुभाई थे ऐसा तिब्बती परम्परा में कहा जाता है अतः वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। कहा गया है कि उनकी विमाता ने उनके हाथ पैर कटवा कर चौराहे पर डलवा दिया था। गोरक्षनाथ वहाँ से निकले तो उन्होंने हाथ पैर को धड़ से जोड़ कर पूर्ण कर दिया फिर ये उन्हीं के साथ जाकर नाथपंथ में दीक्षित हो गये। पंजाबी लोककथाओं में इन्हें पूरन भगत भी कहा जाता है। इनका पन्थ नाथों में पागलपन्थ के नाम से विख्यात हुआ। इनकी रचनाऐं 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में संग्रहीत हैं। ८४ सिद्धों मे आपका दसवाँ स्थान है। तिब्बती परम्परा में आपको राजा देवपाल का पुत्र बताया जाता है। ''कन्दली मंजुनाथ माहात्म्य'' में आपको पुष्पुर नगर के राजा महाबल का पुत्र बताया गया है नवनाथ कथा में और सातवें नाथ चतुरंगीनाथ नाम से आपका वर्णन मिलता हैं।

कानिफानाथ :

आपके अनेक नाम मिलते हैं- यथा कानफा, कृष्णवज्र, कर्णपा, कर्णफा, कृष्णचार्य, कान्हूपा, कानपा, काणेरीनाथ इत्यादि। ''चौरासी सिद्धों का वृतान्त'' नामक ग्रंथ में इनका अलग से वर्णन किया है।[१]

---

१. अध्याय - २४।

उसके अनुसार इनका नाम आचार्य कृष्णचार्यपाद है। ये जालन्धरनाथ के शिष्य कृष्णपा ही है, और इस प्रकार गोरक्षनाथ के समसामयिक हैं। चर्यापदों में आपने स्वयं को कापालिक कहा है। नाथ सम्प्रदाय में आपने वामारग या वाममारग नामक उप सम्प्रदाय चलाया। ये १२ वर्ष तक गुरु के साथ बदरिकाश्रम में रहे आपने अनेक तान्त्रिक ग्रंथ रचे तथा सिद्धियाँ प्राप्त कीं। आपने नागार्जुन से रसायन भी सीखा था।[१]

जालन्धरनाथ :

तिब्बती परम्परा में इनके नाम जालंध्रीपाव या जालन्धरीपाव भी मिलते हैं। इनका समय ९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ठहरता है। राजा गोपीचन्द्र की ममता मयनामती इनकी शिष्या थीं। बाद में गोपीचन्द्र ने भी इन्हीं से दीक्षा ली। ये मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुभाई थे। पंजाब के जालन्धरपीठ नामक स्थान में जन्म के कारण इनका नाम जालन्धरनाथ पड़ा। कृष्णपा अथवा कनीफानाथ भी इनके शिष्य हुए। सिद्धसम्प्रदाय में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। 'चौरासी सिद्धों का वृतान्त'[२] के अनुसार जालन्धर का अर्थ है जाल धारण करने वाला। इनका स्थान नगरथोड़ था और जाति ब्राह्मण। संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने के कारण आप एक दिन श्मशान चले गये, वहाँ डाकिनी की आकाशवाणी हुई जिसके अनुसार ७ वर्ष की साधना के बाद उन्हें सिद्धि की प्राप्ति हुई। पुरातत्त्व निबन्धावली में राहुलजी ने इनको नगरभोग [नगर भोट] का निवासी तथा ब्राह्मण बताया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोविन्द चन्द्रेर गीत के सन्दर्भ से इनके द्वारा शिवशाप वश राजा गोविन्द चन्द्र के घर नीच कर्म करने का उल्लेख किया है। अपनी माँ मयनामती की विशेष आज्ञा से राजा ने इनसे दीक्षा ली थी। भोटिया ग्रंथ में तो इन्हें आदिनाथ ही कह दिया है और मत्स्येन्द्रनाथ कण्हपा और तंतिया को इनका शिष्य।[३] आपने कच्छपा से बौद्धतंत्रो की दीक्षा ली थी। कुछ दिनों तक आप नेपाल में भी रहे।

---

१. पृ० ४२-४६ ।

२. पृ० ९४ ।

३. आधार- पुरात्व निबंधावली-राहुल सांस्कृत्यायन, पृ० १५१-१५२.

पूर्वी बंगाल में इन्होंने हाड़ीपा का रूप ग्रहण किया। इनके शिष्यों में कृष्णाचार्य, बुद्धज्ञानपा, तंतिपा, भर्तृहरि तथा गोपीचन्द्र थे।[१] 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में जालन्ध्रीपाव जी की सबदी शीर्षक से इनकी रचनाएं संग्रहीत हैं[२] कथाओं में आपका और गोरक्षनाथ का संघर्ष वर्णित हैं।

गोरक्षसंहिता में भी आपकी चर्चा है।[३] हठयोग क्रिया के लिये इनके नाम से प्रचलित जालन्धरबंध प्रसिद्ध है।

गहनीनाथ :

इनका नाम ग्रहणनाथ या गेनीनाथ भी है और समय ११७५ ई० माना जा सकता है। महाराष्ट्र की नाथ परम्परा के विकास में आपका बहुत बड़ा सहयोग हैं। इनके पिता का नाम अज्ञात है। आपकी रचनाएं हैं– १. गहिनीप्रताप, २. गोरक्षगीता, ३. कुछ अभंग। आप ब्रह्मगिरी [गोदावरी के उद्गम के निकट] निवास करते थे। आपने महाराष्ट्र की भूमि पर नाथ मत को कृष्ण भक्ति से जोड़ा है, इसका प्रभाव निवृत्तिनाथ और सन्तज्ञानेश्वर पर पड़ा। आपकी रचना गोरक्षगीता बहुत सम्मानित पुस्तक है। ''योगिसम्प्रदायाविष्कृति'' में इनसे सम्बंधित अनेक कथाएं हैं। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान कैवल्य', 'गोरखबोध' आदि कई ग्रंथों में इनकी कथाऐं हैं। बताया जाता है कि मिट्टी का पुतला बनाते हुए गोरक्षनाथ द्वारा संजीवनी विद्या का अभ्यास करने से वह पुतला प्राणवान् हो गया। तब मत्स्येन्द्रनाथ ने उसका नाम गैनीनाथ रख दिया और गंगा नामक एक निःसंतान ब्राह्मणी को पालन हेतु दे दिया। बड़े होने पर यही बालक गहनीनाथ कहलाया और उसने बहुत कठोर तप किया ।

भर्तृहरिनाथ :

इनका स्थितिकाल ११वीं शताब्दी के पूर्व ठहरता है। ह्वेनसांग ने इन्हें बौद्ध बताया है परंतु इनकी रचनाओं का मूल स्वर शैव है। इनकी प्रसिद्ध

---

१. दृष्टव्य–सिद्ध साहित्य–डॉ० धर्मवीर भारती, पृ० ५४ ।
२. नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित, पृ० १३–३२ ।
३. भाग–१ नवम पटल । संस्कृत वि.वि. से प्रकाशित।

रचनाएं हैं- वाक्यपदीय, शृङ्गार शतक, नीतिशतक, वैराग्य शतक। ये उज्जैन के राजा थे। किन्तु वैराग्य हो जाने के कारण राजपाट अपने सौतेले छोटे भाई विक्रमादित्य को दे दिया और स्वंय गोरक्षनाथ के प्रभाव में आकर योगी बन गये। उज्जैन से ६ कि.मी. दूर भर्तृहरि की गुफाएं हैं जो नाथयोग साधना का केन्द्र हैं। चुनार के किले में भी इनकी समाधि है। गाजीपुर [उ.प्र.] में भित्तरी [भर्तृहरि] भी इनकी तपोभूमि बतायी जाती है। चुनार दुर्ग में एक अंग्रेजी शिलालेख है जिसमें लिखा है- इस दुर्ग का निर्माण ई.पू. ५६ वर्ष में विक्रमादित्य ने कराया था। बाबर से लेकर जहाँगीर तक मुगल राजाओं का इस पर अधिकार था। आज किले का आधा भाग नाथसम्प्रदाय का है। 'गोरखबोध' में कुछ प्रंसग[१] दिये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि दत्तात्रेयजी की कृपा इन पर थी उन्हीं ने गोरक्षनाथ को इनके पास भेजा। प्रियतमा रानी पिंगला की मृत्यु से पीड़ित वे उसीके नाम की रट लगाये थे। गोरखनाथ ने इनका मोह दूर कर दत्तात्रेय के पास पहुँचाया। दत्तात्रेय मत्स्येन्द्रनाथ के भी गुरु थे अतः गोरक्षनाथ ने भृर्तहरि को गुरुभाई माना। 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में इनकी रचनाएं हैं। सम्प्रदाय में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। भरथरी साधु सारंगी लेकर इनके राग विराग, चरित्र, दर्शन और साधना के गीत गाते रहते हैं।

अजयपाल :

डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने अजयपाल को गढ़वाल का राजा बताया है तथा इनका काल १५वीं. शताब्दी निर्धारित किया हैं।[२] ऐसा मानने का आधार यह है कि इनकी रचनाओं में उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। आपकी रचनाएं 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में संकलित है साथ ही जोधपुर के प्राच्य शोध-विद्या प्रतिष्ठान में भी लगभग १० सबदियाँ संग्रहीत हैं।

---

१. २०,२१,२२

२. योग प्रवाह, पृ० २०२ के आधार पर।

धोड़ाचोली :

नाथपन्थ का एक पंथ है 'आई पन्थ'। उसके प्रसिद्ध सिद्ध हुए हैं चोलीनाथ- सम्भवतः धोड़ाचोली भी उन्हीं का नाम है। आपका समय १२वीं शताब्दी के पूर्व का अनुमित किया जाता हैं।[१] चोलीनाथ ने स्वयं को मछीन्द्र का दास कहा है, साथ ही नाथपन्थ के अन्तर्गत रावलपन्थ पागलपन्थ, वनखण्डी, आई, पाँकि, धूज, पाथोज, गोपाल आदि पन्थों की चर्चा की है। जोधपुर पुस्तकालय में संग्रहीत योग गुटका संख्या १२ में आपकी १७ सबदियाँ, ३ में १५ तथा ७ में १३ सबदियाँ संग्रहोत हैं। साथ ही नाथसिद्धों की बानियाँ में भी उनकी सबदियों का संग्रह है।

चरपटनाथ :

आपके नाम चरपटीनाथ, चर्णटीपा, पचरीपा आदि भी प्राप्त होते हैं उक्त नाम बज्रयानी सिद्धों में भी प्राप्त होता है। तिब्बती लोग आपको मीनपा का गुरू मानते हैं। सिद्ध परम्परा में आप गोरक्षनाथ के शिष्य हैं। कहीं-कहीं आप गोपीचन्द्र के गुरुभाई थे- ऐसे उल्लेख भी प्राप्त होते हैं और राजपूताना मैं आपका निवास था ऐसा माना जाता हैं कहीं कहीं आपको गहनीनाथ का गुरुभाई कहा गया हैं। आपका स्थिति काल १०वीं शताब्दी था। आपका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। किंवदन्ती के अनुसार एक बार एक स्त्री ने गोरक्षनाथ से एक पुत्र की याचना की तो उन्होंने उसे अपना कोपीन [कर्पटी] दे दिया- उसी को चूसने से वह गर्भवती हो गयी और उसे एक पुत्र की प्राप्ति हुई अतः कर्पटी से उत्पन्न बालक को चर्पटीनाथ कहा गया। आपके अनेक शिष्य हुए यथा- राघव नाथ बालनाथ, तोटनाथ, जाम्बुनाथ, नित्यनाथ, सारेन्द्रनाथ, काकुत्सानाथ, और भैरवनाथ आदि। आपके उपदेश सबदी तथा श्लोक रूप में 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में संग्रहीत है।[२]

दत्त जी अथवा दत्तात्रेय :

सिद्ध सम्प्रदाय में गोरक्षनाथ का नाम अत्यन्त महत्त्पूर्ण है तथा प्रायः लोग उन्हें इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मानते हैं किन्तु इसके आदि गुरु दत्तात्रेय हैं। सिद्ध सम्प्रदाय में सिद्धि का प्रमुख उपादान है बज्रकाया और

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० २०।
२. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित, पृ० १३-१८।

उसकी प्राप्ति का प्रमुख साधन है रस सिद्धि अर्थात् पारद के रसायन का विधिवत् प्रयोग। इसका आविष्कार तथा प्रथम उपदेश दत्तात्रेय ने आदि नाथ शंकर को किया था। आदि नाथ नाथपंथ एवं रस सम्प्रदाय के प्रथम गुरु मान्य हैं।

दत्तात्रेय का महाराष्ट्र समाज में बड़ा सम्मान है और आप एक दिव्य अवतार की भाँति पूजे जाते हैं। आप एक महान् योगी हुए। आपकी संस्कृत रचनाऐं प्रसिद्ध हैं। ''नाथसिद्धों की बानियाँ'' में शंकराचार्य विरचित 'दत्ता स्तोत्र' प्रकाशित है।[१] इनकी सबदी. भी इसमें संग्रहीत है।[२] कुछ रचनाएं आपके नाम पर की गई प्रतीत होती है क्योंकि उनकी भाषा १५वीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं।

नागार्जुन :

आपका समय गोरक्षनाथ के कुछ समय बाद का माना जाता है। इन्हें नागअरजन्द अथवा नागाअंजन भी कहा जाता है। ये रससिद्ध थे और दिव्य देह के स्वामी थे। आपका निवास स्थान प्राय: दक्षिण भारत, आन्ध्रप्रदेश और नालन्दा माने जाते हैं। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि आपका स्थितिकाल छठी शताब्दी में था तथा आप नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष तथा माध्यमिक शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य हुए। ''कौतुक चिन्तामणि'' नामक प्रसिद्ध तान्त्रिक ग्रंथ आपकी रचना माना जाता है आप शबरपाद के गुरु रहे और ''चौरासी सिद्धों का वृत्तान्त'' के उल्लेख के अनुसार आपका जन्म पूर्वी भारत के काँची नामक जनपद के अंग कहोर में हुआ था। आप जाति से ब्राह्मण थे और आपको सिद्धि की प्राप्ति अर्थतारा से हुई थी। आपके अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं ये भूत पूजा भी करते थे। प्रसिद्ध सिद्ध सरहपाद को आपका गुरु माना जाता है। कहीं कहीं 'काँची' नामक स्थान दक्षिणी भारत में भी माना गया है।[३] दक्षिणी भारत में श्रीपर्वत की यात्रा आपने की थी। लामा तारानाथ के अनुसार इन्होनें अपने जीवन के उत्तरकाल में दक्षिण में जाकर

---

१. उपरिवत्, पृ० २ ।
२. उपरिवत्, पृ० ३३-३६ ।
३. चक्रसम्बर सामान्यार्थ वृत्ति पृ० ३६ ।

सातवाहन राजा [भद्रसातवाहन] को दीक्षा दी।[१] डॉ० चन्दोला ने आपका समय ८४४ वि.सं. के आसपास का मानते हुए अपने पक्ष में अनेक पुष्ट प्रमाण दिये हैं। एक सिद्धयोगी के रूप में आपकी बहुत ख्याति है तथा योग सम्बन्धी अनेक सम्प्रदाय आपको प्रणम्य मानते हैं।

विरूपाक्ष [विरूपा][२]

८४ सिद्धों में आपका तीसरा स्थान है। आप चामरितन्त्र के प्रणेता हैं। आपका समय राजा देवपाल का शासन काल [८०९-८४९ ई०] का है तथा जन्मस्थान त्रिपुर या त्रिपुरा है। आपने नालन्दा महाविहार में शिक्षा प्राप्त की थी। तंत्र दीक्षा आपने श्रीपर्वत के सिद्ध नागबोधि से ली थी। नालन्दा में आपने पारम्परिक बौद्ध शिक्षा प्राप्त की किन्तु असंतुष्ट रहे और फिर वामाचार की साधना करने लगे। सिद्ध डोम्बिपा और कण्हपा आपके प्रमुख शिष्य हुए। आपने श्रीपर्वत, देवी-कोट, उड़ीसा तथा चीन आदि की यात्रा की थी बाद में आप दक्षिण के सोमपुरी नामक महाविहार में प्रविष्ट हुए। आप पंचमकारी थे तथा भिक्षु बनने हेतु दीक्षा आपने 'जितदेव' से ली थी। भिक्षु बनने के बाद आपका नाम श्रीधर्मपाल पड़ा। आपने बसुबंध को भी गुरु बनाया। दार्शनिक दृष्टि से आप विज्ञान वादी थे। इनके आचरण से असन्तुष्ट होकर भिक्षुओं ने विहार से इन्हें निष्कासित कर दिया था। इस घटना के फलस्वरूप आप बौद्ध योगी हो गये। इस नाम के और भी सिद्ध हुए हैं।[३] इनके १- बिरूपा, २- बालविरूप, ३- चर्मपा नाम भी प्राप्त होते हैं। ''साधनमाला'' मे आपकी एक साधना मिली है इसमें विरूपाक्ष नाम दिया गया है। तन्जूर के पुस्तकालय में आपके १३ ग्रंथ रखे हैं जिनमें ८ अपभ्रंश में हैं। 'ताराहस्य' में मानव गुरुओं में विरूपाक्ष का नाम है। आपसे सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री मिलती है।[४] हठयोग प्रदीपिका की सिद्ध सूची में भी

---

१. तारानाथ इति वृ. ७०-७१ अध्याय १५ ।

२. विस्तार के लिये दृष्टव्य- सहजसिद्ध : साधना एवं सर्जना- डॉ० रणजीत कुमार साहा, पृ० १९.

३. विस्तार के लिये देखिये-सिद्ध साहित्य, डॉ० धर्मवीर भारती, पृ० ५८

४. गोरख बानी भूमिका, पृ० १८.

विरूपाक्ष नाम का उल्लेख है आप इससे अभिन्न हो सकते हैं। तब आप हठयोगी माने जा सकते हैं। सम्भव है कि बौद्धो द्वारा निष्कासित होने पर आप हठयोग साधना करने लगे हों और इसी आधार पर नाथसिद्धों की परम्परा में इनके नाम की गणना की गयी हो।

रतननाथ :

ये भर्तृहरि के शिष्य हुए। साथ ही मुसलमान योगियों में भी इनका बड़ा सम्मान हैं इनके नाम से सम्बद्ध तीर्थ काबुल और जलालाबाद में हैं। आपको गोरक्षनाथ का भी शिष्य तथा गूगा का गुरु कहा जाता है। आपने काबुल में अनेक मुसलमानों को योगी बनाया। गोरक्षनाथ की कृपा से ११९२ ई० में गूगा पृथ्वीराज की ओर से गौरी से लड़े थे। इन्हें हाजीबाल भी कहते हैं। डॉ० बड़थ्वाल ने सिलूक और 'काफिर बोध' नामक पुस्तकों को आपकी रचना बताया है।[१] तथा रज्जबदास की सर्वांगी में भी आपकी कुछ सबदियाँ हैं। प्राय: पश्चिमोत्तर भारत ही आपका कार्य क्षेत्र रहा। मक्का जाने के कारण आप हाजी रतननाथ भी कहलाये।[२] उत्तरप्रदेश के बलरामपुर रियासत में स्थित देवीपाटन की नाथगद्दी आपने स्थापित की थी तथा नेपाल में भी कुछ गद्दियाँ आपसे सम्बद्ध हैं। पटियाला राजा की गोविन्दगढ़ तहसील में भटिंडा रेलवे स्टेशन से ३ मील की दूरी पर इनकी समाधि 'दरगाह बाबा रतन नाथ' के नाम से जानी जाती है।

निवृत्तिनाथ :

सिद्ध निवृत्तिनाथ संत ज्ञानेश्वर सोपानदेव तथा मुक्ताबाई के अग्रज थे। आपका समय १२७३ से १२९९ ई० है। सिद्ध गहिनीनाथ आपके गुरु थे जिन्होंने सिद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित करने के साथ ही कृष्णभक्ति की भी प्रेरणा दी। नाथ सम्प्रदाय के लिये यह नयी चीज थी। आपने महाराष्ट्र में भागवत सम्प्रदाय का भी प्रारंभ किया। आपका जन्म स्थान गोदावरी

---

१. गोरखबानी, भूमिका, पृ० १८.

२. देखिये- नाथ पंथ, डॉ० शान्ति प्रसाद चन्दोला।

के उत्तर में पेंठढ से ४ कोस दूर था तथा पिता विट्ठलपंथी थे। आपने अपने अनुज ज्ञानेश्वर को नाथपंथ की दीक्षा दी थी । मराठी में कुछ अंभग पद आपके नाम से मिलते हैं।

ज्ञाननाथ [ज्ञानेश्वर] :

प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर का जन्म १२७६ में हुआ था और १२९७ में पूना में आपने समाधि ली। आपका व्यक्तित्व बड़ा क्रान्तिकारी तथा स्वभाव अत्यंत सरल था। आपके द्वारा प्रतिपादित मानवता का आदर्श अद्यावधि सराहा जाता है। अपने अग्रज गुरु की भांति आपने भी नाथमत को श्रीकृष्ण भक्ति से प्रभावित किया था। आपकी सबसे बड़ी विशेषता है- ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वयन। श्रीमद्भगवत्गीता पर आपका भाष्य 'ज्ञानेश्वरी' एक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचना है। इसके अतिरिक्त आपकी जीवनी पर 'ज्ञानेश्वर चरित' नामक स्वतंत्र रचना प्रकाशित हैं। आपने अपनी रचनाओं में गुरु महिमा, अद्वैत तत्व की उपासना, अष्टांगयोग और भक्ति की श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला है। आपने नाथपंथ में सगुण निर्गुण, शिव, विष्णु, ज्ञान-कर्म, भक्ति योग को समन्वित किया। नाथ साधना और कृष्णभक्ति को मिलाकर एक नवीन स्वरूप दिया।

कतिपय प्रमुख सिद्धों का उक्तविवरण प्रस्तुत किया गया है इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक सिद्ध हुए उनमें नाथ सिद्धों के अतिरिक्त बौद्ध एवं तान्त्रिकों आदि अनेंको सम्प्रदायों के सिद्ध भी सम्मिलित हैं। समस्त सिद्धों की परम्परा पर शोध कार्य अपेक्षित है, किन्तु प्रस्तुत शोध केवल सिद्धों की साधना पद्धति से सम्बद्ध है। अतः भूमिका रूप में कतिपय प्रसिद्ध सिद्धों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। यों तो सिद्धों की परम्परा अद्यावधि अनवरत चल रही है। ऐसे सिद्धों को न संसार से कोई स्वार्थ होता है न अपने यश की लिप्सा, अतः अनेक नाम समय के गर्त मे समाहित होते रहे हैं अथवा अपने-अपने विशेष क्षेत्र में प्रसिद्ध होते रहे। विभिन्न आश्रमों में उस क्षेत्र के सिद्धों के विवरण उपलब्ध हैं

इनमें से कतिपय सिद्धों पर काव्यादि की रचनाएं भी हुई हैं यथा अब से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व वि.स. १९७९ में फतेहपुर शेखावाटी [राज.] में हुए संत अमृतनाथ पर शेखावाटी के विद्वान् कवि एवं वैद्यराज शंकरलाल शर्मा ने 'श्रीमद् अमृत चरितम्' महाकाव्य की रचना की तथा उन्हीं ने सिद्ध बुधगिरि पर भी बुधगिरिचरितम् काव्य की रचना की है। योगिराज अमृतनाथ एवं श्री बुधगिरिनाथ आधुनिक काल में होने वाले महान् सिद्ध थे। आज भी यह धरा सिद्धों से विहीन नहीं है अनेक सिद्ध पृथ्वी को पापभार से मुक्त कराने हेतु जन्म लेते रहते हैं किन्तु वे स्वप्रसिद्धि से निरपेक्ष कहीं एकान्त वास करते अथवा जिज्ञासु एवं सुपात्र शिष्यों को साधना हेतु उपदेश देने तक ही सीमित रहते हैं। प्रसिद्धि में उनकी लिप्सा नहीं रहती है। प्रस्तुत शोधकार्य हेतु सामग्री संकलन करते हेतु शोधकर्त्री को अनेक ऐसे सिद्धों के नाम ज्ञात हुए हैं। इनमें एक हैं– गोवर्धन [मथुरा] में सिद्ध सिद्धान्त अकादमी के अध्यक्ष योगिराज शैलेन्द्र शर्मा। आपकी अकादमी का नाम करण नाथ पंथ से किसी प्रकार के सम्बंध की ओर इंगित करता है। इस कारण आपसे मिलकर साधना सम्बंधी तथ्यों का समाकलन करते हुए जो निष्कर्ष निकले हैं उनके कारण कहा जा सकता है कि श्री शर्मा यद्यपि कनफटा साधु नहीं हैं न ही वे कमण्डलु, तुरही आदि नाथ साधुओं की वेशभूषा धारण करते हैं किन्तु निश्चित रूप से वे एक महान् सिद्ध हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित साधना का स्वरूप हठयोग की साधना से बहुत समानता रखता है यद्यपि वे उसे क्रियायोग का नाम देते हैं।

१२वीं १३वीं शताब्दी तक होने वाले नाथ सिद्धों के जो विवरण ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं उनसे निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

[१] सिद्धों और नाथ सिद्धों की सूचियों में किसी एक सम्प्रदाय के सिद्ध नहीं दिखाई पड़ते हैं।

[२] तान्त्रिक बौद्धों के काल में ही शैवों, शैव तान्त्रिकों, नाथ सिद्धों का प्राबल्य था।

[३] जनसामान्य बौद्धों के वामाचार प्रधान साधन और शैव कापालिकों के साधन से समानरूप से आतंकित था।

[४] गोरक्षनाथ के साथ ही ऐसे नाथ सिद्धों की परम्परा चली जो भिन्न, भिन्न सम्प्रदायों से आने पर भी संयम और आचार प्रधान साधन मार्ग को स्वीकार करते गये।

[५] मुसलमानों के व्यापक आक्रमण के पूर्व बौद्ध और नाथसिद्ध समान रूप से भारत की साधनभूमि में क्रियाशील थे।

सिद्धों की संख्या :

'हठयोग प्रदीपिका' के आरंभ में ही नाथपंथ के अनेक सिद्धयोगियों के नाम दिये हुए हैं। मान्यता है कि ये सिद्ध आज भी जीवित हैं और कालदण्ड को खण्डित करके ब्रह्माण्ड में विचर रहे हैं। वे हैं -

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानंद, भैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मन्थान भैरव, सिद्धमौख, कन्हड़ीनाथ, कोरटकनाथ, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, काणेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरञ्जननाथ, कापालिनाथ, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिप्पणीनाथ, भल्लरीनाथ, नागबोध और खण्डकापालिका। इनमें से अनेकसिद्धों के नाम कोई अनुश्रुति शेष नहीं रह गई है। कुछ के नाम तांन्त्रिकों योगियों और निर्गुण संतों में भी आते हैं और कुछ को सहजयानी ओर वज्रयानी सिद्धों से अभिन्न माना जा सकता है।

'वर्णरत्नाकर' नामक पोथी[१] में चौरासी सिद्धों की तालिका दी हुई है किन्तु नाम केवल ७६ हैं सम्भवत: आठनाम प्रमादवश छूट गये हैं तिब्बती परम्परा में भी ८४ सहजयानी सिद्ध प्रसिद्ध हैं।[२] इन दोनों में

---

१. एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में तालपत्र की पोथी नं. ४८/३४ लिपिकाल लक्ष्मण सं. ३८८ लेखन कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर।

२. साहित्येतिहास [आदिकाल] सुमनराजे– पृ० १४० के आधार पर ।

अनेक नाम अभिन्न हैं परम्परा में भी सिद्धों की चौरासी संख्या प्रसिद्ध हैं।[१] ग्वालियर [म.प्र.] के निकट 'जौरासी' ग्राम 'चौरासी' का अपभ्रंश और सिद्ध क्षेत्र माना जाता है। विभिन्न तालिकाओं के नामों की तुलना हम बाद में करेंगे।

सबसे आदि में नव मूलनाथ माने जाते हैं जो महान् सिद्ध हुए और सिद्ध सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया किन्तु इनके नामों पर भी मतभेद है। महार्णवतन्त्र में नाम इस प्रकार है गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़ भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ योगिसम्प्रदायाविष्कृति में भी ये नाम हैं और उन्हें विभिन्न नारायणों का अवतार माना गया है। साथ हीं यह भी लिखा है कि महादेव जी ने गोरक्षनाथ नामक व्यक्ति को नवनाथों के अवतरित होने के बाद उत्पन्न किया। इससे यह माना जा सकता है कि गोरक्ष नवनाथों में नहीं थे।

सिद्ध	नारायण जिन्होंने अवतार लिया
१. मत्स्येन्द्रनाथ	कविनारायण
२. गहनीनाथ	करभाजन नारायण
३. जालन्धरनाथ	अन्तरिक्षनारायण
४. कानिपानाथ	प्रबुद्धनारायण
५. नागनाथ	आविर्होत्र नारायण
६. चर्पटनाथ	पिप्पलायन नारायण
७. रेवानाथ	चमसूनारायण
८. भर्तृहरिनाथ	हरिनारायण
९. गोपीचन्द्रनाथ	द्रुमिलनारायण

इनमें गोरक्षनाथ दसवें नाथ सिंद्ध हुए। 'महार्णवतंत्र' में जड़भरत का नाम नवनाथों में है परंतु 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' उन्हें नौ नाथों से अलग मानती है। इसके अतिरिक्त सुधाकर चन्द्रिका के अनुसार नौ सिद्धों के नाम है-

१. चौरासी सिद्धों का वृतान्त -आचार्य अभयदत्त, श्री प्रकाशक केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी १९७९।

१. एकनाथ २. आदिनाथ ३. मत्स्येन्द्रनाथ ४. उदयनाथ ५. दण्डनाथ ५. सत्यनाथ ७. संतोषनाथ ८. कूर्मनाथ ९. जालन्धर नाथ।

नेपाली परम्परा में भी नौ सिद्धों की चर्चा है किन्तु वे नाम पूर्णत: भिन्न और इस प्रकार है :

१. प्रकाश २. विमर्श ३. आनन्द ४. ज्ञान ५. सत्य ६. पूर्ण ७. स्वभा ८. प्रतिभा ९. सुभग।

इन सूचियों में गोरक्षनाथ का नाम न आने का कारण गोरक्षपंथियों का यह विश्वास है कि नौ नाथसिद्धों की उत्पत्ति श्री गोरक्षनाथ से हुई ये सब उन्हीं [गोरक्ष] के अवतार हैं।

इन सभी तालिकाओं में सर्वसाधारण नाम ये हैं- आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ, और गोरक्षनाथ। ये नाम सिद्धों में भी परिचित हैं और तिब्बती परम्परा के सहजयानी बौद्ध सिद्धों में भी उक्त सभी महान् सिद्ध हुये हैं। सिद्ध सम्प्रदाय में उनका अत्यन्त सम्माननीय स्थान है। यह बात भी दृष्टव्य है कि एक और चौरासी सिद्ध और नवनाथों की परम्परा चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये ९ मूल नाथसिद्ध हुए होगें किन्तु भिन्न तालिकाओं में नाम भेद है और यदि अभिन्न नामों को अलग कर भिन्न नामों को भी जोड़ दिया जाये तो यह संख्या चौरासी से कहीं अधिक हो जायेगी।

नाथसिद्धों की तथा सहजयानी सिद्धों की तालिका की तुलना कर लेना उचित प्रतीत होता है-

संख्या नाथ सिद्ध	संख्या सहजयानी सिद्ध	विशेष
१. मीननाथ	१. लूहिपा	
२. गोरक्षनाथ	२. लीलाप	
३. चौरंगीनाथ	३. विरूपा	नाथ सिद्ध[=ना.सि.]
४. चौरंगीनाथ	४. डोम्भीपा	तुलना (तु)

५. तंतिपा	५. शबरीपा	ना.सि. ४ से तु.
६. हालिपा	६. सरहपा	
७. केदारिपा	७. कंकालीप	
८. धोंगपा	८. मीनपा	ना.सि. १ से तु.
९. दारिपा	९. गोरक्षपा	ना.सि. २
१०. विरूपा	१०.चोरंगीपा	ना.सि. ३
११. कपाली	११. बीणापा	
१२. कमारी	१२. शांतिपा	ना.सि.४४ से तु.
१३. कान्ह	१३. तन्तिपा	ना.सि. ५ से तु.
१४. कनाल	१४. चमरिपा	
१५. मेखल	१५. खडगपा	
१६. उन्मन	१६. नागार्जुन	ना.सि. २२
१७. काण्डलि	१७. कराहपा	ना.सि.१३ से तु.
१८. जालंधर	१८. थगना	ना.सि.४८ से तु.
१९. धोबी	१९. कर्णरिपा [आर्यदेव]	
२०. टोंगी	२०. नारोपा	
२१. मवह	२१. शलिपा [शीलपा] श्रृगाली पाद?	ना.सि.५५ से तु.
२२. नागार्जुन	२२. तिलोपा	
२३. दौली	२३. छत्रपा	
२४. भिषाल	२४. भद्रपा	ना.सि.३७ से तु.
२५. अचिति	२५. दोखधिपा [द्विखंडिपा]	
२६. चम्पक	२६. अजोगिपा	
२७. ढेण्टस	२७. कालपा	
२८. भुम्बरी	२८. धोम्भिपा	ना.सि.१८ से तु.
२९. बाकील	२९. कंकणपा	

३०. तुजी	३०. कमरिपा[कंबलपा]	ना.सि.३४ से तु.
३१. चर्पटी	३१. डेंगिपा	ना.सि. ८?
३२. भादे	३२. भदेपा	ना.सि.३२ से तु.
३३. चांदन	३३. तंधेपा[तंतिपा]	
३४. कामरी	३४. कुकुरिपा	
३५. करवत	३५. कुचिपा[कुस्लिपा]	
३६. धर्मपाततंग	३६. धर्मपा	ना.सि. ३६
३७. भद्र	३७. महीपा[महिलपा]	
३८. पलिहि	३८. भलहपा[भवपा]	
३९. पाललिभद्र	३९. अचिन्तिपा	ना.सि.२५ से तु.
४०. भानु	४०. नलिगना	
४१. मीन	४१. भूसकुपा	
४२. निर्दय	४२. इन्द्रभूति	
४३. सबर	४३. मेकोपा	
४४.——	४४. कुडालिपा	ना.सि.७ से तु.
४५. भर्तृहरि	४५. कमरिपा[कम्मरिपा]	ना.सि.१२ से तु.
४६. भीषण	४६. जालंधरपा	ना.सि.१८ से तु.
४७. भटी	४७. राहुलपा	
४८. गगनपा	४८. धर्मरिपा[धर्मरि]	
४९. गमार	४९. धोकरिया	
५० मेनुरा	५० मेदनीपा[हालीपा?]	ना.सि.६ से तु.
५१. कुमारी	५१. पंकजपा	
५२. जीवन	५२. घंटा[वज्रघंटा] पा	
५३ अघोसाधव	५३. जोगीपा[आजोगिपा]	
५४. गिरिबवर	५४. चेलुकपा	
५५. सियारी	५५. गुंडारिपा:[गारुरपा]	
५६. नागवालि	५६. लुपिकपा	

५७. विभवत्	५७. निर्गुणपा	
५८. सारंग	५८. जयानन्त	
५९. विविकिधज	५९. चर्पटापा[पचरीपा]	ना.सि.३१ से तु.
६०. मगरधज	६०. चम्पकपा	ना.सि. २६
६१. अचित	६१. भिखनपा	ना.सि.४६ से तु.
६२. विचित	६२. भिखनपा	ना.सि.६६ से तु.
६३. नेचक	६३.	ना.सि.५१ से तु.
६४. चाटल	६४. चवरि[जवरि] अजपालिपा	ना.सि.४ से तु.
६५. नाचन	६५. मणिभद्रा[योगिनी]	ना.सि.७४ से तु.
६६. भीलो	६६. मेखलापा[योगिनी]	ना.सि.१५से तु.
६७. पाहिल	६७. कनखलापा[योगिनी]	ना.सि.१४ से तु.
६८. पासल	६८. कलकलपा	
६९. कमल कंगारि	६९. कन्ताली[कन्थली] पा	
७०. चिपिल	७०. धुघलि[रि]पा[उबड़ीपा?]	
७१. गोविन्द	७१. उधनि[उधलि] पा	
७२. भीम	७२. कपाल[कमल]पा	ना.सि.६९ से तु.
७३. भैरव	७३. किलपा	
७४. भद्र	७४. सागरपा	
७५. भमरी	७५. सर्वभक्षपा	
७६. मुरुकुटी	७६. नागबोधिपा	ना.सि.५६ से तु.
७७.	७७. दारिकपा	ना.सि.९ से तु.
७८.	७८. पुतुलिपा	
७९.	७९. पनहपा	
८०.	८०. कोकलिपा	
८१.	८१.अनंगपा	
८२.	८२. लक्ष्मीकरा	
८३.	८३. समुदपा	
८४.	८४. भलि[व्यालि] पा	

बाद के ग्रंथो में कुछ अन्य सिद्धों के नाम भी आते हैं जो चौरासी सिद्धों में परिगणित हुए हैं। सिद्धों का एक ग्रंथ हैं 'प्राण सांगली' इसमें गुरु नानक के साथ चौरासी सिद्धों के साक्षात्कार का वर्णन है। इनमें कुछ सिद्ध क्रोधी और तामसिक प्रकृति के भी थे। निम्नलिखित नाम ऊपर की तालिकाओं में नहीं आये हैं किन्तु इस सिख ग्रंथ में संग्रहीत हैं, इनके नामों में भी 'नाथ' जुड़ा है :

१. परवत सिंह	[पृ० १५४]
२. ईश्वर सिंह	[पृ० १५५]
३. चरपटनाथ	[पृ० १५५]
४. धूधूनाथ	[पृ० १५६]
५. चंपानाथ	[पृ० १५६]
६. खिंथड़नाथ[कंथड़ि?]	[पृ० १६२]
७. झंडारनाथ	[पृ० १६१]
८. धूर्मनाथ	[पृ० १६५]
९. मंगलनाथ	[पृ० १६७]
१०. प्राणनाथ	[पृ० १६९]

परवर्ती ग्रंथों में सिद्धों के नाम इतने विकृत हुए हैं कि कभी कभी भ्रम होता है कि अमुक कोई दूसरा सिद्ध तो नहीं है यथा नागार्जुन नागा अरजन्द हो गए हैं। नेमिनाथ नीमनाथ बन गए हैं और कंथाधारी किंकड़ हो गये हैं। कई ऐसे नाम हैं जिनका मूलनाम विकृत हो कर कुछ का कुछ हो गया है।

तिब्बती परम्परा से जिन सिद्धों के नाम आये हैं उनकी उपाधि 'पा' है। कुछ सिद्धों की उपाधि भद्र है और कुछ उपाधि हीन भी हैं। इनमें ५ परम्पराओं के सिद्ध प्राप्त होते हैं– १. नाथसिद्ध, २. बौद्धसिद्ध ३. रससिद्ध, ४. शैवसिद्ध, ५. महेश्वरसिद्ध। कुछ सिद्ध ऐसे भी हैं जिसके मूल सम्प्रदाय का कुछ पता ही नहीं चलता है। पुराणों में इनकी संख्या ८८,००० तक प्राप्त होती है। इसके साथ ही सिद्धों की विविध परम्पराएं तथा संख्या ९ कोटि तक मिलती है पर कोई सूची नहीं मिलती।

"ललिता सहस्त्रनाम" [बम्बई १९१९], "तारा रहस्य", "कौलावली तंत्र", एवं श्यामारहस्य आदि में भी कुछ नाम दिये गये हैं।[१] इस संदर्भ में डॉ० राम सिंह तोमर का कथन है कि वास्तव में सिद्ध चौरासी ही हुए थे और उसके पश्चात् परम्परा टूट गयी अथवा ८४ संख्या का कोई विशेष महत्व है, कहना कठिन है।[२]

पारम्परिक रूप से देखें तो ८४ सिद्धों और नव नाथों की चर्चा अनेकों पुराणों में भी प्राप्त होती है यथा ब्रह्मवैवर्तपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण, [केदार खण्ड] विष्णु पुराण, भरद्वाज संहिता तथा अन्य पौराणिक संदर्भों में लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अवहट्ठ के ग्रंथों में इनकी चर्चा है।

इस क्षेत्र में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने भोटिया साहित्य का गम्भीर आलोडन किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ''हिन्दी साहित्य [उसका उद्‌भव और विकास]'' में लिखा है- ''इस प्रकार यदि नवनाथों कापालिकों, ज्ञाननाथ [सन्त ज्ञानेश्वर] तक के गुरु सिद्धों और वर्णरत्नाकर के ८४ नाथसिद्धों को नाथपरम्परा में मान लिया जाय तो १४वीं शताब्दी के आरंभ होने के पूर्व लगभग सवासौ सिद्धों के नाम उपलब्ध होते हैं।''[३]

उक्त सभी उल्लेखों में सिद्धों की संख्या तथा नामों के भेद ही दृष्टव्य हैं जो कोई बड़े महत्व की बात नहीं है क्योंकि सिद्धों की संख्या तो निरंतर परिवर्धनशील हो सकती है किन्तु यह बात आश्चर्यान्वित करने के लिये पर्याप्त है कि पुराणों से लेकर नाथसम्प्रदाय, तिब्बती परम्परा, तन्त्रसाहित्य यहाँ तक कि सिख ग्रंथों में भी ८४ संख्या के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह बात महत्वपूर्ण प्रतीत होती है कि नाथ सम्प्रदाय के ३०० वर्षो के इतिहास में ही लगभग इतने सिद्ध हो गये और

---

१. देखिये क्रमशः पृ० ११५, ७६ एवं २४।

२. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० १७४-१७५।

३. पृ० ३१।

नाथ सम्प्रदाय का पर्याय हो गया सिद्ध सम्प्रदाय। यह तथ्य उक्त सम्प्रदाय की तत्कालीन प्रसिद्धि और प्रभाव का रेखाचित्र खींचने में सहायक सिद्ध हुआ है। यद्यपि ऐसा कोई आधार तय नहीं हो पाया है जिसके आधार पर इनकी सर्वसम्मत नामावली तैयार हो सके किन्तु इनका महत्व नकारा नहीं जा सकता है। उक्त सम्प्रदाय के महान् सिद्ध बौद्धों की वज्रयानी और सहजयानी शाखाओं से भी इतना एकात्म्य स्थापित कर चुके थे कि कालान्तर में इन्हें बौद्ध ही माना जाने लगा। विविध आसनों के प्रयोगकर्ता, साधकों और सिद्धों, चक्रों के शोधकों और साधकों का यही सम्प्रदाय ऐसा था जिसने पिण्ड और ब्रह्माण्ड को एकाकार करने का प्रथम प्रयास किया। संसार को भोगते हुए बंधन को काटने का रास्ता सबसे पहले सिद्धों ने ही प्रस्तुत किया। इनमें कुछ वाममार्गी भी थे और कुछ भोटिया तथा नेपाली भी। ''भोटिया साहित्य के माध्यम से हम इनकी धारा को १२वीं शताब्दी तक ले जा सकते हैं लेकिन बाद में कबीर तक की तीन शताब्दियों का भरना असम्भव सा ही मालूम पड़ता है।''[१]

---

१. सरस्वती हीरक जयन्ती विशेषांक १९००-१९५९, राहुल सांकृत्यायन का लेख, पृ० ६३३।

अध्याय-द्वितीय

सिद्धमत एवं साहित्य

सिद्ध अथवा नाथ सम्प्रदाय :

यह सम्प्रदाय भारत का परम प्राचीन, उदार, ऊँच नीच की भावना से परे, अवधूत अथवा योगियों का सम्प्रदाय है।

इसका आरम्भ आदिनाथ शंकर से हुआ है और इसका वर्तमान रूप देने वाले योगाचार्य बालयति गोरक्षनाथ हैं। श्री गोरक्षनाथ भगवान शंकर के अवतार हुए हैं। जिनके प्रादुर्भाव और अवसान का कोई लेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। पुराणों में उनके अमर सिद्ध होने के उल्लेख हैं।

पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, शिवपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि के अतिरिक्त महार्णव आदि तांत्रिक ग्रंथो और बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में तथा अन्य दूसरे ग्रंथो में श्री गुरु गोरक्षनाथ की कथायें मिलती हैं।

श्री गोरक्षनाथ वर्णाश्रम धर्म से परे पञ्चमाश्रमी अवधूत हुए हैं जिन्होंने योग क्रियाओं द्वारा मानव शरीर में स्थित महाशक्तियों का विकास करने के लिये संसार को उपदेश दिया और हठयोग की प्रक्रियाओं का प्रचार करके भयानक रोगों से बचने के लिये समाज को एक महत्वपूर्ण साधन प्रदान किया। इसके अतिरिक्त परम्पराओं और साम्प्रदायिक ग्रंथो के अवलोकन से ज्ञात होता है कि गोरक्षनाथ ने बौद्धों की चित्त साधना योगशास्त्र की परम्परा से काय-साधना, शैवागम से द्वैताद्वैत विलक्षण परमसत्ता की उपासना, और वैष्णव धर्म से सात्विकता को लेकर नाथ सम्प्रदाय का संगठन किया, जिसको विद्वानों ने अनेक

नाम दिये यथा-[१] सिद्धमार्ग या सिद्धमत [२] अवधूत मत [३] नाथयोग या नाथसिद्धमत [४] योगी सम्प्रदाय [५] कनफटा योगी मत [६] दर्शनी सम्प्रदाय [७] योगमार्ग या सम्प्रदाय [८] नाथ पंथ, परंतु सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द हैं- सिद्धमत[१], सिद्धमार्ग[२], योगमार्ग[३], योग-सम्प्रदाय[४], अवधूत मत[५], अवधूत सम्प्रदाय[६]। योगाभ्यास ही इस पंथ का मुख्य धर्म होने से योगमत आदि नाम सार्थक हैं, सिद्धमत या सिद्धमार्ग कहलाने का कारण यह है कि नाथ सिद्ध हैं। अवधूत मत कहलाने के विषय में गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह[७] मे लिखा है कि हमारा मत तो अवधूत मत ही है।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में इस सिद्धमत को सबसे श्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि कर्कश तर्क परायण वेदान्ती माया से ग्रसित है, भाट्ट मीमांसक कर्मफल के चक्कर में पड़े हुए है, वैशेषिक लोग अपनी द्वैत बुद्धि से ही मारे गए हैं तथा अन्यान्य दार्शनिक भी तत्त्व से वंचित ही हैं। फिर सांख्य वैष्णव, वैदिक, वीर, बौद्ध, जैन ये सब लोग व्यर्थ में कष्ट मय मार्ग में भटक रहे हैं, और होम करने वाले बहु दीक्षित आचार्य, नग्नव्रत वाले तापस, नाना तीर्थो में भटकने वाले पुरुषार्थी बेचारे दुःख भार से दबे रहने के कारण तत्त्व से शून्य रह गये हैं।[८]

यह सिद्धमार्ग ही नाथमत हैं। 'ना' का अर्थ अनादि और 'थ' का अर्थ है [भुवनत्रय का] स्थापित होना। अतः नाथमत का अर्थ हुआ-अनादि धर्म जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। एक अन्य अर्थ इस प्रकार करते है- 'ना' शब्द का अर्थ-नाथब्रह्म जो मोक्ष-दान में दक्ष हैं,

---

१. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पृ० १२ ।

२. योग बीज ।

३. गो.सि.सं.पृ० ५-२१ ।

४. गो.सि.सं.पृ० ५-२१ ।

५. वही. पृ० १८ ।

६. वही पृ० ५६ ।

७. अस्माकं मतं त्ववधूतमेव, पृ० १८ ।

८. सि.सि.प. ।

उनका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है [अज्ञान के सामर्थ्य को] स्थगित करने वाला? नाथ के आश्रयण से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरूद्ध होती है।

जैसा हमने देखा इस सम्प्रदाय के प्रथम प्रवक्ता आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं।[२] और मूलतः समग्र नाथ सम्प्रदाय शैव है। सबके मूल उपास्य देवता शिव हैं। इसके प्रवर्तक आदिनाथ होने पर भी व्यवहार में मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ, नवनाथ तथा ८४ सिद्धों ने भी इस मत के प्रवर्तन का कार्य किया।[३] मत्स्येन्द्र जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे उसका नाम सिद्ध कौल मत ही आगे चलकर नाथ परम्परा के रूप में विकसित हुआ।[४] वैसे कापालिक मत को भी श्रीनाथ ने ही प्रकट किया था। 'शाबर तंत्र' में कापालिकों के १२ आचार्य माने गये हैं जिनमें प्रथम नाम आदिनाथ का ही आता है और जो १२ शिष्यों की उन्होनें चर्चा ही है उनमें से कई नाथमार्ग के प्रधान आचार्य हैं।[५] शाक्त मार्ग, जो तन्त्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा भी नाथ ही हैं। शाक्त आचारों में भी वाम दक्षिण और कौल उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं और कौलमार्ग ही अवधूत मार्ग है। इस प्रकार तान्त्रिकों का कौलमार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही है। त्रिपुरा मत के तान्त्रिकों के आचार्य स्वयं अपने को 'नाथ मतानुयायी' कहते हैं। कश्मीर के कौलमार्ग में मत्स्येन्द्रनाथ को बड़ी श्रद्धा के साथ याद किया जाता है।

"नाथपंथ का उद्भव तत्कालीन परिस्थितियों की प्रेरणा का परिणाम

---

१. शक्ति संगम तंत्र में श्री मोक्षदान दक्षत्वात् नाथ ब्रह्मानुबोधनात्।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्रीनाथ इति गीयते।।

२. देदीप्यमानस्तत्वस्य कर्त्ता साक्षात् स्वयं शिवः।
सरंक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रया।। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति।

३. गोरक्ष संहिता. पृ० ११ ।

४. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

५. १२ शिष्य ये हैं- नागार्जुन, ज़ड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमानाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवध, वैरागी, कंथाधारी, जालन्धर और मलयार्जुन।

था। बौद्धसिद्धों तथा शाक्तों के ऐतिहासिकता परक जीवन और गुह्याचार से आंतकित समाज का त्राण गोरखपंथ के प्रवर्तन का प्रधान उद्देश्य था"।[१] यह 'सिद्धमार्ग' अत्यंत प्राचीन है सम्भवतः उतना ही जितना कि शिवशक्ति योग का इतिहास । ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय का मूलरूप पूर्व में विद्यमान था जिसे मत्स्येन्द्र गोरक्ष आदि ने परिष्कृत और परिवर्धित करके प्रचारित किया। अतः इन योगियों को 'नाथमत' का प्रवर्तक नहीं माना जाता है।

अथर्ववेद और तैत्तरीय ब्राह्मण में 'नाथ' शब्द का प्रयोग 'रक्षक' अथवा 'शरणदाता' अर्थ में मिलता है। महाभारत में स्वामी अथवा पति अर्थ में और बोधिचर्यावतार में बुद्धि के लिये इसका प्रयोग है। जैन और वैष्णव ग्रंथो में सर्वश्रेष्ठ के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है। परवर्ती काल में योग परक पाशुपत शैवमत का विकास नाथ सम्प्रदाय के रूप में हुआ जिसमें 'नाथ' शब्द का प्रयोग शिव के लिये किया गया । इस सम्प्रदाय में गोरक्षनाथ को ब्रह्मस्वरूप शिव का अवतार माना गया है। अनेक विद्वानों ने इस बात को माना है कि प्राक् वैदिक व्रात्य शैवों का ही परवर्तीकाल में नाथ शैव के रूप में विकास हुआ"।[२] इस सम्प्रदाय के आविर्भाव काल में एक ओर तन्त्राचार और वामाचार से समाज आवृत्त था दूसरी ओर परम्पराएं, रूढ़ियाँ तथा अनेक पन्थ या सम्प्रदाय पनप रहे थे। श्री केशव नारायण सिंह का मत है कि 'नाथ सम्प्रदाय तन्त्र शास्त्र में विद्यमान है।'[३] इन तथ्यों के आकलन से यही सिद्ध होता है कि नाथ सम्प्रदाय की स्थापना विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं को लेकर हुई थी। शिव को परम तत्व मानना एवं कुण्डलिनी की साधना के द्वारा जीव और शिव का मिलन कराना नाथ सम्प्रदाय की प्रधान विशेषता मानी जाती है। चित्त की एकाग्रता और मन की निश्चलता ये दोनों

---

१. साहित्य और संस्कृति कुछ अन्तर्यात्राएं, डॉ भगवती प्रसाद सिंह, पृ० २।
२. गोरखनाथ एवं उनकी परम्परा का साहित्य डॉ० दिवाकर पाण्डेय पृ० ९८-९९।
३. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत तथा नाथ सम्प्रदाय और तंत्रशास्त्र, पृ० १२१ ।

विशेषताऐं बौद्ध परम्परा में भी व्यापक रूप से प्राप्तव्य है। इस सम्प्रदाय के संदर्भ में ३ बिन्दु दृष्टव्य हैं- [१] नाथ सम्प्रदाय सिद्धों का ही परवर्ती रूप है। [२] यह शैवागम की एक शाखा है। [३] इसमें तान्त्रिक, यौगिक परम्परा का विकास है।

इसके अतिरिक्त 'योगिनी हृदयम्'[१] में नाथ सम्प्रदाय को कौलमार्ग का परिष्कृत रूप कहा गया है। इसी प्रकार सहजयानी सिद्धों की साधना में भी नाथसिद्धों ने पर्याप्त परिष्कार किया । सहजियों की आस्था नारी के प्रति श्रद्धान्वित हो गयी। कहा जा सकता है कि वज्रयान के अभावात्मक शून्य को सहजयान में एक धनात्मक स्वरूप प्राप्त हो गया था। नाथसम्प्रदाय में हमें उस स्थान पर अलख और निरंजन तत्त्व मिलता है।[२] इसी से जीव की समरसता स्थापित की जाती है और सद्गुरु की कृपा से चित्त को शान्ति प्राप्त होती है जिसके फलस्वरूप ही सामरस्य की प्राप्ति सम्भव हो पाती है' जब तक चित्त देहात्मबोध- मूलक क्षोभ से मुक्त नहीं होता, तब तक उसमें शांति नहीं आ पाती है और यथार्थ साधना का प्रारंभ नही होता है।[३] इस साधना की सफलता से देह या पिण्ड की सिद्धि सम्भव होती है और देह अमरत्व को प्राप्त कर लेती है। इसी को सिद्धावस्था अथवा परमपद की प्राप्ति कहते हैं। यही समरसता की अवस्था है। व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओं मे शिव और उनकी शक्ति जगत पिण्डों में व्याप्त रहती है। आत्मा और जगत् के मध्य संचरित रहने वाले शिव के साथ एकता का अनुभव करना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इसी को समरसता कहते हैं। इसको जाग्रत् करने से साधक को परमानन्द का लाभ होता है इसके लिये इस सिद्ध साधना में मंत्र तंत्र के अलावा योग साधना पर भी बल दिया गया है। साथ ही बिन्दु रक्षा इस साधना का आदर्श है। यह साधना गुरु के निर्देशन

---

१. अमृतानन्दयोगिकृत दीपिका की भास्करराज कृत सेतुबन्ध टीका, सम्पादक म.म. गोपीनाथ कविराज सं. २०३५।

२. भारतीय सन्तपरम्परा और समाज, रांगेय राधव, पृ० ६१।

३. योगवाणी- सिद्ध दर्शन 'विशेषांक' गोपीनाथ कविराज का लेख, पृ० ५१।

में चलती है। अतः गुरु का स्थान सर्वोपरि होता है। इस साधना में परमपद को प्राप्त करने का अधिकार सभी को है। नाथमत का पर्याय गुरु कहा जाता है।[१] इन नाथ सिद्धों का बाह्याचार संन्यासीवत् होता है ये मेखला, शृंगी, कंथा, कर्णमुद्रा कोपीन, पुंगी, व्याघ्राम्बर, खड़ाऊँ, झोली रखते हैं। गले मे ये नाथजी के नाम से ऊन का काला धागा पहनते हैं भिक्षा के समय एकतारा बजाते हुए अलख निरंजन कहते हैं। आदेश पद से अभिवादन करते हैं, एकान्त सेवन और 'ऊँ' आदि मंत्र का जाप करते हैं, भैरव की उपासना तथा नाद साधना करते हैं। ये पूर्णतः आत्मदर्शी होते हैं। प्रकृति और पुरुष की सत्ता, परमाणु और परम महत्तत्व अथवा मूलप्रकृति पर्यन्त उनका अधिकार होता है। ये स्थिर चित्त, वाणी से सिद्ध, निष्कामी और स्वाध्यायी होते हैं। कान फड़वाने से ये लोग कनफटा कहलाते हैं। मुद्रा धारण करते हैं जो दो प्रकार की होती है कण्डलु और दर्शन। 'दर्शन' का सम्मान अधिक है क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसे धारण करने वाले ब्रह्मसाक्षात्कार कर चुके होते हैं। कुण्डल को साक्षात्कल्याणकारिणी मुद्रा माना जाता है, इससे देवता प्रसन्न होतें हैं और असुर भाग जाते हैं। कान फडवाने को तत्पर होना कष्ट सहन की क्षमता, दृढ़ता और वैराग्य का बल प्रगट करता है। इससे शिष्यों की कठिन परीक्षा हो जाती है। कान फड़वाने के बाद मनुष्य बहुत से सांसारिक झंझटों से स्वभावतः या लज्जावश बचता है।

षट् दर्शनों में योग का स्थान अत्युच्च है और सिद्धयोगी योगमार्ग पर चलते हैं जो आत्मदर्शन का प्रधान साधन है।

सिद्ध सम्प्रदाय के ग्रंथों में ही नहीं बल्कि लोक जीवन में भी सबके गुरु गोरक्षनाथ माने जाते हैं। इन्हें 'श्रीनाथ' नाम से पुकारा जाता है। ये अवधूत भी माने जाते हैं।

अवधूत लोग अद्वैतवादी योगी होते हैं जो कि बिना किसी भौतिक

---

१. तन्त्र और सन्त, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० २३।

साधन के योगाग्नि प्रज्वलित करके कर्म विपाक को भस्म कर निजानन्द में रमण करते हैं और अपनी सहज शिक्षा के द्वारा जन कल्याण करते रहते हैं। तभी नाथ शब्द सार्थक होता है। इनका सिद्धान्त है-

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रो, न सुरपतिः सुराः,
नैव पृथ्वी न चापौ।
नैवाग्निर्नापि वायुः न च गगनतलं,
नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रवि शशिनो
नो विधि नैव कल्पाः।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं
सच्चिदानन्द मूर्ते॥

सिद्ध सम्प्रदाय को यदि हम बृहद् रूप में समझें तो विभिन्न कारणों से सामान्य से अन्तरों के साथ कई सम्प्रदाय इसमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन सभी में ध्येय विषय एक है- परमपद की प्राप्ति अथवा शिव शक्ति मिलन अथवा पिण्डपद एवं परमपद का समरसीकरण- जैसे अभिधानों में केवल शब्दों का ही भेद है। साथ ही साधना के सोपान भी सामान्यतः एक ही हैं- योगाङ्ग जिनमें नाड़ी शोधन मुद्रा, बन्ध, वेध आदि भी आसन, प्राणायाम, धारणा ध्यानादि के साथ सम्मिलित हैं- चक्र-साधना, नादसाधना, मन्त्रयोग, कुण्डलिनी जागरण आदि। इतनी समानता होने पर भी भिन्न भिन्न नामों से सम्प्रदाय और उनकी साधना प्रशस्त हुयी यथा- हठयोग, तंत्र, कौल, कापालिक मत, रस सम्प्रदाय इत्यादि। ये सभी थोड़ी भिन्नता प्रतिपादित करने के कारण पृथक् समझे जाते हैं किन्तु सभी की साधना सिद्धि प्रदायिनी है और ये सम्प्रदाय परस्पर सम्बद्ध भी हैं जैसे कि नाथ सिद्धों ने ही हठयोग का प्रतिपादन किया उन्हीं के आदि सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ योगिनी कौलमत में दीक्षित हुए और कौलमत के प्रतिपादक रूप में प्रसिद्ध हुए। गुरु गोरक्षनाथ प्रसिद्ध नाथ सिद्ध हैं हठयोग के उद्भावक हैं, उन्हें तान्त्रिक भी माना जाता है, नेपाल में उन्हें बौद्ध

समझा गया । रस सिद्धान्त उन्हीं ने चलाया। इस प्रकार इन सभी सिद्ध सम्प्रदायों में कोई मूलभूत अंतर नहीं हैं। सभी में सिद्धगुरु होते हैं। अतः सिद्ध सम्प्रदाय के अन्तर्गत इनके विषय में भी सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन रहेगा।

हठयोग :

शास्त्र ग्रंथो में प्राणनिरोध प्रधान साधना को हठयोग कहा गया है। नाथों की साधना में हठयोग की ही प्रधानता है। योगी हठयोग के अभ्यास से कुण्डलिनी जागरण के द्वारा मोक्षदात्री सुषुम्ना मार्ग का भेदन कर ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।[१] कुण्डलिनी चालन से ही योगी लोग मुक्ति को प्राप्त कर पाते हैं। सम्पूर्ण योग तंत्र उसी के अधीन है[२] यह कुण्डलिनी बालरण्डा है। 'ह' का अर्थ सूर्य है और 'ठ' का अर्थ है चन्द्र। सूर्य चन्द्र के योग को ही हठयोग कहते हैं-

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोयोगात् हठयोगो निगद्यते।।

परिभाषा के भेद से यही इडा और पिगंला नाड़ी अथवा अपान और प्राणवायु का समीकरण कहलाता है। हठयोगी कहते हैं कि वैषम्य ही जगत् की उत्पत्ति और दृश्यमानता का मूल कारण है। जगत् जिससे प्रादुर्भूत होता है, वह जब तक साम्य अवस्था में बना रहता है, तब तक जगत् नहीं रहता। वह अद्वैत या प्रलयावस्था है। साम्य भंग होने से ही वैषम्य, द्वन्द्व या द्वैतभाव का उदय होता है- यही सृष्टिबीज है। जब दो विरोधी शक्तियाँ परस्पर एक दूसरे का उपमर्दन करके निष्क्रिय भाव से स्थित रहती हैं, तथा वे जब समत्व का त्याग करती है और उनमें गुणप्रधान भाव जाग उठता है, तब सृष्टि और संहार का व्यापार सूचित होता है। बहिःशक्ति की प्रधानता से संहार होता है। स्थिति दोनों शक्तियों

---

१. आधार-हठयोग प्रदीपिका, पृ० १२७।
२. वही, पृ० १२८।

की समानता का निदर्शन हैं। इन दोनों शक्तियों को भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं। शिवशक्ति, पुरुष प्रकृति आदिशब्द मूलतः इसी आदि द्वन्द्व के नाम हैं। जीव देह में इन विरुद्ध किन्तु परस्पर सम्बद्ध शक्तियों का विकास प्राण एवं अपान रूप में देखा जा सकता है। प्राण और अपान एक दूसरे का आकर्षण प्रत्याकर्षण करते हैं। दोनों मिलकर एक होना चाहते हैं पर हो नहीं पाते हैं क्योंकि एक के जाग्रत् होने से दूसरा सुप्त हो जाता है। यदि प्राण या अपान को जमाकर अथवा यथाक्रम उन्हें उद्‌बुद्ध कर परस्पर एक को दूसरे से मिलाया जा सके तो अवश्य ही दोनों का साम्य हो सकता है किन्तु साधारणतः यह होता नहीं। जब तक श्वास प्रश्वास का व्यापार होता है तब तक इडा पिंगला मार्ग क्रियाशील रहता है। श्वास प्रश्वास समान होने से सुषम्ना द्वार खुल जाता है। प्राण अपान की समता, इडा और पिंगला का साम्य पूरक और रेचक की समानता या कुम्भक, ये सभी समानार्थक हैं और इन्हीं से सुषुम्ना द्वार का उन्मोचन होता है। तभी हठयोग सिद्ध होता है इस हठयोग को हठसिद्धि देने वाला कहा गया है।[१] अतः हठात् सिद्धि देने वाले यौगिक अभ्यास को हठयोग की संज्ञा दी जाती है।

सुषुम्ना पथ ही मध्य पथ है शून्य पदवी या ब्रह्मनाडी। चन्द्र और सूर्य को यदि प्रकृति और पुरुष स्थानीय माना जाये तो चन्द्र सूर्य का मिलन कहने से प्रकृति पुरुष का आलिंगन ही समझना होगा।

इस आलिंगन के बिना शून्यपथ खुल ही नहीं सकता और शून्यपथ खुलते ही प्रकृत शून्य में स्थिति नहीं होती। शून्यता भी आपेक्षिक है। इस आपेक्षिकता को दिखाने के लिये हठयोगी शून्य, अतिशून्य, महाशून्य आदि पदों का प्रयोग करते हैं। विशुद्ध शून्य ही निर्वाण पद है- यहाँ वासना नहीं, क्लेश या कर्माशय आदि कुछ नहीं रहता। अतएव, प्रकृत शून्य या निर्वाण पद उस आलिंगन की गाढ़तम अवस्था के चरम फल

---

१. प्राणतोषिणी, पृ० ८३५।

के सिवा और कुछ नहीं। आचार्यों के मत में उस समय केवल एक अद्वयतत्व रहता है, उसे भी तत्व न कहकर 'तत्वातीत' कहना अधिक उपयुक्त होगा। अत: शिव शक्ति अपना पार्थक्य छोड़कर जब तक समरूपता नहीं प्राप्त करते तब तक प्रकृत शून्यावस्था का उदय नहीं होता। साम्य एवं निरंजनता ही निर्वाण का स्वरूप है। हठाचार्य सहस्रारस्थ महाबिन्दु में इस महामिलन का अनुभव करते हैं और उससे निकली रसधारा में अपने को आप्लावित करते हैं। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी जब इड़ा और पिगंला नाम की नाड़ियों के संघर्ष ज़नित समीकरण के फलस्वरूप जाग्रत् होकर अग्निशिखा सदृश उठती है तब स्वभावत: ही ऊर्ध्वमुख होकर सरल पथ से धावित होती है। इस उत्थानकाल में इधर उधर विक्षिप्त शक्तियाँ चारों ओर से आकुञ्चित हो जाती हैं और उस धारा में गिरती हैं इस प्रकार क्रमश: लोक लोकान्तर को संहार की अग्नि में दग्ध करके, नाद रूपा कुण्डलिनि सिंहनाद करते हुए उठती है इसके फलस्वरूप मन और चित्त संहत होते हैं, षटचक्रों का भेदन होता है और आज्ञाचक्र के ऊपर स्थिति होती है। बाद में, वहाँ से अत्यंत ही सूक्ष्म पथ की चैतन्यशक्ति के रूप में प्रकाशमान कुण्डलिनी चैतन्य के महासमुद्र में परमशिव के वक्ष में मिलने के लिए धावित होती है। कुण्डलिनी जब सहस्रारस्थ परमशिव से युक्त होती है तब उस आलिंगन से विचित्र आनन्द का उदय होता हैं। जीव उसका आस्वादन करता है। शिव शक्ति के मिलन के बिना आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। महाबिन्दु में जब मिलन का सूत्रपात होता है, तब भी दो बिन्दु रहते हैं। बाद में क्रमश: दोनों बिन्दु एक महाबिन्दु में परिणत हो जाते हैं। यह महाबिन्दु अखण्ड परमानन्दमय एवं युगलभावापन्न होते हुए भी अद्वय है।

इस हठयोग की साधना प्रणाली को सिद्धपथ कहते हैं अथवा यों कह सकते हैं कि सिद्धों का आचरित और प्रचारित धर्म बहुत अंशो में हठयोग का ही अभिन्न रूप है। मौलिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन कब और किसके माध्यम से हुआ इसके लिये प्रमाण उपलब्ध नहीं है। परमार्थत: तो अन्यान्य विद्याओं की तरह हठविद्या भी साक्षात्

परब्रह्म से ही उद्‌भूत है हठयोग प्रदीपिका में इसे आदिनाथ अर्थात् भगवान शिव से उपदिष्ट कहा गया है।

इस विद्या के संसार में प्रचार के प्रथम सिद्ध कौन हैं? इस विषय में साधारणतया, मत्स्येन्द्रनाथ को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है।[१] साथ ही हम पाते हैं कि भारतीय साधन पद्धति के इतिहास और क्रमविकास की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि सिद्धमार्ग के स्थापित होने के पहले से ही किसी न किसी रूप में हठयोग प्रचलित था। मार्कण्डेय प्रोक्त हठयोग बहुत प्राचीन है, उसमें विशुद्ध हठयोगांश से नाथों के प्रचारित सिद्धान्त का मौलिक ऐक्य होते हुए भी अवान्तर विषयों में बहुत वैलक्षण्य था। सिद्धमार्ग का जो प्राणस्वरूप है, उसके वैशिष्ट्यसम्पादक, नाथों ने ही अपनी साधना और अनुभूति के फलस्वरूप संसार में, उसका व्यापक रूप में प्रचार किया था।

जहाँ तक हठयोगियों के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रश्न है वे न तो द्वैतवाद का पक्ष लेते हैं न अद्वैतवाद का अपितु अपने मत को द्वैताद्वैत विलक्षण कहकर वर्णित करते हैं। जालन्धरनाथ सिद्धमत के एक बहुत ही प्रसिद्ध और क्षमतावान् आचार्य थे। उन्होंने 'सिद्धान्तवाक्य' नामक पदावली में कहा है 'द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शंकरो वा'। उनका मत है- द्वैत और अद्वैत दोनों का सामरस्य नहीं होने से पूर्ण सत्य के साक्षात्कार की सम्भावना नहीं। जड़ और चैतन्य में विरोध है, यह कल्पना करके जो लोग दूसरे पक्ष का समर्थन करते हैं, हठयोग की दृष्टि से वे भ्रान्त हैं। हठयोग सिद्धि का अर्थ कायसिद्धि है और वह भारतीय साधना के लिये एक महान् गौरव का विषय है। जब तक जड़ और चेतन पृथक् भाव से रहेगा, तब तक देहसिद्धि की आशा नहीं की जा सकती। सिद्धदेह और आत्मस्वरूप में कोई वास्तविक भेद नहीं है। क्योंकि देहसिद्धि के बिना आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। जिस

---

१. हठयोग प्रदीपिका १०४

कर्म-कौशल से देह ओर आत्म का यह कल्पित भेद मिटता है और मौलिक अभिन्नता प्रतिष्ठित होती है, सिद्धयोगी उसी साधन प्रणाली का हठयोग या 'योग' कहकर वर्णन करते हैं। उनकी मान्यता है कि योग के बिना परावस्था की प्राप्ति सम्भव नहीं। यह आदिनाथ का कथन बताया जाता है- योगमार्गात् परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ। तथा 'विवेक मार्त्तण्ड' में योग से भिन्न शास्त्रों की निरर्थकता प्रतिपादित है- ''योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'', अर्थात् शास्त्राध्ययन रूपी विकल्प को भी निर्विकल्प परम पद प्राप्ति हेतु त्यागना होता हैं। जीवन का जो अंश शास्त्रपाठ अथवा विकल्पमय वाग्जाल के विस्तार में खर्च होता है, सिद्धों के मत में वह निष्फल है क्योंकि विकल्पों का उपशम और अनादि प्रवहमाण भ्रान्ति स्रोत का निरोध हुए बिना जीव के परम कल्याण-लाभ की कोई आशा नहीं होती। इसके लिये गुरु की आवश्यकता होती है गुरु कृपा के बिना मोह के बन्धन नहीं कट पाते। गुरु जो मार्ग दिखाते हैं उसी राह पर चलने पर स्वसंवेद्य आत्मवस्तु का दर्शन होता है इससे भिन्न कोई मार्ग आत्मसाक्षात्कार का कारक नहीं हैं ऐसा गुरु कौन हो सकता है, इस विषय में जठर संहिता में लिखा है-

परम्पराप्त-सन्मार्ग-दर्शने यस्य योग्यता।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रान्ति कारणम्।।

तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम्।
भवतीति गुरूं देवभावेन परिचिन्तयेत्।।

एकमात्र गुरु कृपा से ही निरुत्थान दशा का उदय होता है। तब आत्मस्मृति के उदय से एक अनिर्वचनीय महा-आनन्दमय अवस्था का स्फुरण होता है। अपने पिण्ड अथवा देह का ज्ञान सम्यक् सिद्ध होने से परमपद के साथ उसका ऐक्य अथवा अभेद स्वभावतः ही प्रतिष्ठित होता है। परावस्था प्राप्त योगी तृप्त और निर्विकल्प भाव से सदा निरुत्थान पद पर विराजमान रहते हैं।

हठयोग की दो विधियां बतायी गई हैं- एक गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उपदेश मार्कण्डेय ऋषि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि के द्वारा उपदिष्ट। पूर्व की विधि में योग के अष्टांग स्वीकृत हैं जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में निर्देश किया है और दूसरी में अंतिम षट् अंगो को ही माना गया है। वैसे यह भेद बहुत मान्य नहीं है क्योंकि हठयोग के ग्रंथो में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडंग योग की भी, जैसे गोरक्षशतक में षडंगों का उल्लेख है और सिद्ध सिद्धान्त संग्रह में अष्टांगों का।

हठयोग की चर्चा में शारीरिक बनावट को समझ लेना भी आवश्यक हैं। जहाँ मेरूदण्ड सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य लगता है, वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते है इस स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डली स्थित है। गोरक्षशतक [१,४७] में इसके आठ वलय बताये गये है यह शक्तिस्वरूपा है जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त शक्ति का ही व्यष्टि रूप है। यह ब्रह्मद्वार को अवरूद्ध कर सोई हुई है।[१] जिस प्रकार चाभी से तांला, हठात् खुल जाता है उसी प्रकार हठयोग की क्रियाओं से कुण्डली का उद्‌बोधन होता है और हठात् मोक्षद्वार अनायास खुल जाता है।[२]

शरीर में तीन वस्तुएं परमशक्तिशाली हैं किन्तु परम चंचल भी। वे हैं- बिन्दु अर्थात् शुक्र, वायु और मन। इनमें से किसी एक को भी वश

---

१. येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तदद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी। ।। गो. श. १/४८

२. मूलकन्दो द्योतो वायुः सोमसूर्यपथोद्‌भवः।
शक्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः।।१
मूलकन्दे सुप्ता शक्ति कुण्डलाकार रूपिणी।
उद्‌गमावर्त वतोऽयं प्राण इत्युच्यते बुधैः।।२
कंद दण्डेन चोद्‌दण्डैर्भ्रामिता या भुजगिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेव व्यवस्थिता।। ३–अमरौघ, पृ०११

में कर लेने से शेष दो स्वतः वश में हो जाते हैं। बिन्दु के स्खलन को रोकर उसे ऊर्ध्वमुख कर ऊपर उठाने से सहजानन्द की प्राप्ति होती है और मन, प्राण भी अचल हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम से ही ऐसा सम्भव होता है परन्तु इसके लिये हठयोग के षट्कर्म से नाड़ी शोधन की आवश्यकता होती है ये षट्कर्म हैं- धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।

नाड़ी शुद्धि होने से प्राणादि वायुओं का शमन सहज हो जाता है नाना प्रकार के आसनों और प्राणायामों से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। शरीर के दक्षिण में व्याप्त नाड़ियाँ सूर्य का अंग है और वामांग वाली चन्द्रमा का अंग। इन दोनों के बीच सुषुम्ना है। नाना प्रकार के अभ्यासों से साधक इन दोनों मार्गों को बन्द कर देता है तब उनमें बहने वाली शक्ति संयमित होकर योनिकन्द के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम इसमें साधक होता है।

कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने पर प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्यपथ से निरंतर ब्रह्माण्ड में ध्वनित होने वाले अनहद नाद को सुनने लगता है जिसके अन्तर्गत क्रमशः समुद्रगर्जन, मेघगर्जन, भेरी, झर्झर, मर्दल, शंख, घण्टा, काहल, किंकिणी, वंशी और वीणा की झंकार सुनाई देती है। साधक के चित्तस्थैर्य के साथ इन शब्दों का सुनाई देना बंद होता जाता है क्योंकि तब आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है।

इस प्रकार हठयोगी साधक प्राणवायु को निरुद्ध करके कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है जो क्रमशः षट्चक्रों-मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्र- भेदन कर अंतिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। इन चक्रों के स्वरूप का वर्णन भी बताया गया है इनमें मूलाधार में चार दल है स्वाधिष्ठान में छः मणिपूर में १०, अनाहत में १२ और विशुद्धिचक्र में १६ दल बताये जाते हैं इनके ऊपर भ्रूमध्य में जो आज्ञाचक्र है उसमें केवल दो ही दल होते हैं। सबसे ऊपर

सहस्रदलों वाले कमल के आकार का सहस्रार है यही इस पिण्ड का कैलाश है, यहीं पर शिव का निवास है।[१] इस महातीर्थ तक ले जाने वाली नाड़ी सुषुम्ना को शाम्भवी शक्ति कहा जाता है क्योंकि यों तो प्राणवायु को बहन करने वाली नाड़ियों की संख्या ७२ हजार है पर वस्तुतः यह शाम्भवी शक्ति सुषुम्ना ही सार्थक है क्योंकि यही कुण्डलिनी को ऊपर ले जाकर सहस्रार में शिव से संयोजित करती है और पिण्डब्रह्माण्डैक्य का साधन बनती है। यह सब गुरुकृपा से ही सम्भव हो पाता है। इसके लिये सिद्ध सिद्धान्त संग्रह[३] में उद्धृत है।

अनुबुभूषति यो निजविश्रम
स गुरुपाद सरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसरणात् परमं पदं
समरसीकरणं च न दूरतः॥

तान्त्रिक सम्प्रदाय :

योग के अनेक मार्गों में तान्त्रिक सम्प्रदाय का प्रशस्त स्थान है। तान्त्रिक आचार्य भी शिव शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न मानते हैं। शुद्ध तत्त्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत् का उपादान बिन्दु है तथा कर्त्ता शिव और करण शक्ति है। अशुद्ध तत्वमय जगत् में भी परम्परा से शिव और शक्ति ही कर्त्ता एवं करण हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओं के द्वारा बिन्दु आधार है। बिन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। शब्द ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति, अनाहत और व्योम- इन सुखमय भुवन और भोग्यादि के रूप में परिणत होकर यही बिन्दु शुद्ध जगत उत्पन्न करता है किन्तु जो पहले से ही इस महामाया के राज्य के सुखभोग की इच्छा नहीं रखते,

---

१. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डं व्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति। शि.पु. ५/१५१-१५२

२. द्वारसप्तति सहस्राणि नाड़ी द्वाराणि पंजरे सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ११ हठ. ५/१८

३. ५५९, वही।

वे नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त करके शक्ति के साथ नित्य मिले हुए शिवस्वरूप साक्षात् परमेश्वर को उपलब्ध करते हैं।

तान्त्रिक शब्द का अर्थ है- गुह्य जो गुरुपरम्परा के अनुसार चल रहा है। अतः उन आदेशों और क्रियाओं के द्वारा गुरु ही समझा सकता है। वह हृदय का गुप्त रहस्य है जो गुरु से शिष्यों को प्राप्त होता है और गुप्त ही रखा जाता है-

प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपथं देवि गोपयेत् मातृजारवत्॥[१]

परम शिव की प्राप्ति में शक्ति की साधना सर्वोच्च साधन है अतः अधिकतर तन्त्र शाक्त हैं जिसमें देवी ही तन्त्र को रचनेवाली, तन्त्र के द्वारा अर्चनीय, तन्त्र की स्वामिनी, तन्त्र को मान्य, तन्त्र को जानने वाली, तन्त्र के द्वारा साध्य और तन्त्रस्वरूपिणी हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि तन्त्र शक्ति प्राप्त करने का मार्ग है और तन्त्र ही स्वयं शक्ति है। तन्त्रशास्त्र के दो मुख्य साधन मार्ग है- एक भावना और दूसरा कुल कुण्डलिनी का ऊर्ध्वसंचालन। शास्त्रकार कहते हैं-

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम्॥[३]

भावचूड़ामणि में भी इस प्रकार की बात कही गयी है। भाव से सब कुछ प्राप्त होता है। हम चाहे कितना ही जप, होम आदि करें अथवा शरीर को क्लेश पहुँचायें, भाव के बिना देवता यन्त्र और मन्त्र का फल नहीं देते।

इसी मूल सिद्धान्त को लेकर तमोगुणाधिक साधक के लिये पशु भाव, रजोगुणाधिक साधक के लिये वीरभाव और सत्त्वगुणाधिक साधक के लिये दिव्यभाव की साधना तन्त्रशास्त्र में बतायी गयी है।

---

१. विश्वसार।
२. ब्रह्मयामल।
३. रुद्रयामल।

भाव के अतिरिक्त कुण्डलिनी संचालन का भी तन्त्र में विशिष्ट स्थान है। कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है। वह उस महान् विश्व व्यापिनी शक्ति का ही व्यष्टि शरीर स्थित रूप है।[१] इसे प्रसुप्त विष्णु शक्ति माना गया है जो कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का प्रसूति स्थान है-

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्देवी बीज संज्ञका।।

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका।।

प्रश्न यह उठता है कि सारी शक्तियों की मूलशक्ति इस कुण्डलिनी को जगाया कैसे जाये? हमारे ऋषियों ने साधनाधिकारभेद से कई प्रकार के उपाय बताये हैं यथा- मन्त्रयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, बिन्दुयोग, हठयोग, राजयोग, इत्यादि। इन सबका विवरण शास्त्रों में होने पर भी सिद्ध गुरु ही व्यवहारिक ज्ञान देने में समर्थ होता है। तन्त्र में तो गुरु को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। श्री गुरु और इष्टदेव में अभेद वर्णन किया है-

यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ।
यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येवं भक्तिक्रमः स्मृतः।।[२]

निर्वाणतन्त्रानुसार तो शिव ही गुरु हैं और गुरु, परम गुरु, परात्पर गुरु शिव के ही अंश हैं। सिद्ध गुरु की प्राप्ति एवं दीक्षा हो जाने पर कुण्डलिनी जागरण हेतु साधना का अभ्यास प्रारम्भ होता है इसमें साधक के लिये बाह्य आचारों का विधान है यथा-बाह्यान्तर-शुद्धि, आहार विहार की शुद्धि एवं नियमितता। क्षोभादि का अभाव, इष्ट में पूर्ण प्रेम, स्वाध्याय, साधना हेतु नीरव, स्वच्छ, शुद्ध स्थान, रात्रिकाल, इन्द्रिय संयम, इत्यादि। इसके बाद साधना का जो क्रम प्रारंभ होता है, उसमें प्रमुख है आसन, प्राणायाम और चक्रध्यान। अभ्यास से चक्र जाग्रत् होते

---

१. आर्थन एवेलन [कुण्डलिनी शक्ति] ।
२. सुन्दरी तापिनी।

हैं साधक शक्तिमान् होने लगता है और उसकी इच्छा शक्ति बलवती हो उठती है।

पायु से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से चार अंगुल नीचे ज्ञान रज्जु मेरुदण्ड के बाहर चार अंगुल विस्तृत कन्द के रूप में प्रकट हुई है। सिद्धों के मत से उसी कन्द से बहत्तर हजार नाड़ियों का सम्बन्ध है। इन नाड़ियों में मुख्य इड़ा पिंगला, सुषुम्ना हैं। साधक का लक्ष्य है कन्द की पुष्टि करके शिवशक्ति सम्मिलन। सुषुम्ना से सम्बन्ध होने पर अन्तर्मुख शक्ति सिद्ध होती है। इसी सुषुम्ना द्वारा योगीगण केवल भावना से प्राणायाम के द्वारा संचित शक्ति को ठोकर मारकर कुण्डलिनी को जगाकर ऊर्ध्वगामिनी करने में समर्थ होते हैं और अमृतपद प्राप्त करते हैं। कुण्डलिनी के जागरण पर एक प्रकार का कम्प पैदा होता है और उससे 'ऊँ' की ध्वनि स्वयं निकलने लगती है तथा अनेक प्रकार के स्वर आने लगते हैं। यह ओंकार जगदम्बा का उद्गार है और काम क्रोध, लोभ, मत्सर का नाश ही शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्ड का वध है।

भृकुटी में द्विदल कमल है, जहाँ शिव का निवास स्थान है और योगियों के मत से महाकाल रुद्र वहाँ लेटे हैं। जगदम्बा कुण्डलिनी जाकर ठोकर लगाती हैं और उनके वक्षस्थल पर भीषण नृत्य करके उनमें जीवन का संचार करती हैं और शव से शिव बनाकर सहस्त्रदल पद्म में सदा ही विहार करती हैं। यही काली का नृत्य है।

तान्त्रिक मत से एक तो यह मार्ग है और दूसरे योग की शाखा स्वरूप मंत्र, ज्योति, नादादि योग हैं। पर योगमात्र की साधना तभी सिद्ध होती है जब कुण्डलिनी जाग उठे। सब योगों का लक्ष्य एक ही है।

इस प्रकार तन्त्र में साधकत्व को छोड़कर देवत्व में पहुंचने की जीव से शिव होने की शिक्षा मिलती है तन्त्र की यह विशेषता है कि वह भोग प्रवण मन को बलपूर्वक अकस्मात् धक्का देकर त्याग के मार्ग पर नहीं ठेलता अपितु धीरे-धीरे भोग के अंदर से ही मन की स्वाभाविक गति का मुख त्याग की ओर मोड़ देता है। इस दृष्टि से तान्त्रिक साधना

सबकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और सार्वजनीन है। तन्त्र का सिद्धान्त है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हुए बिना मन का सन्देह नहीं छूटता, अतएव वास्तविक ज्ञान नहीं होता। दार्शनिक विचारों के द्वारा केवल मौखिक ज्ञान होता है, यथार्थ नहीं। आत्मज्ञान के प्रत्यक्ष होने के साधनों के रूप में षटचक्र साधन, मुद्रासाधन, चक्रों के स्थान, स्वरूप, जागरण की विधि आदि के विस्तृत वर्णन-देवीभागवत, महार्णवतन्त्र रुद्रयामल, स्वच्छन्द तन्त्र महानिर्वाणतन्त्र, कङ्कालमालिनी तन्त्र कालीविलासतन्त्र, ललितासहस्रनाम तथा आम्नायसप्तविंशतिरहस्य इत्यादि ग्रंथों में पाये जाते हैं।

तान्त्रिकों के वाम और दक्षिण दोनों सम्प्रदाय लोक में प्रचलित हुए इसका एक कारण इसमें जाति लिंग आदि का कोई बन्धन स्वीकृत नहीं होना है। कोई भी तन्त्र की साधना करके जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

कौलमत :

कौलमत में 'कुल' का अर्थ है शक्ति, और 'अकुल' का शिव। कुल से अकुल का सम्बन्ध स्थापित करना कौलमार्ग है।[१] इसका तात्पर्य कुल और अकुल का सामरस्य स्थापित करना है। शिव को अकुल कहना सम्भवतः इसलिये उचित माना गया होगा कि उनका कोई कुल गोत्र नहीं है, कोई आदि अन्त नहीं है। शिव की सिसृक्षा का नाम ही शक्ति है। शक्ति से समस्त जागतिक उत्पत्ति है। शक्ति शिव की प्रिया है परंतु शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है।[२] शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय अविनश्वर धर्महीन और निरंग है इसलिये उन्हें 'अकुल' कहा जाता है।[३] दूसरी ओर शक्ति सृष्टि का हेतु है इसलिये उसे कुल [वंश]

---

१. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलैरकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते।।

२. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः। सौभाग्यभास्कर पृ०३३
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकायोरिव।। गो.सि.सं. में उद्धृत पृ०६७

३. सिद्धसिद्धा. संग्रह-चतुर्थोपदेश।

कहा जाता है। शक्ति के विना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं। इकार शक्ति का वाचक है जिसे निकाल देने पर शिव 'शव' ही रह जाता है इस शक्ति के उपासक शाक्त ही कौल हैं। कौलोपनिषद् के आधार पर संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं कि ज्ञान और बुद्धि ये दोनों ही धर्म [शक्ति] के स्वरूप हैं। ज्ञान मोक्ष का कारण है, मोक्ष सर्वात्मता सिद्धि है। प्रपंच से तात्पर्य पाँच विषयों [शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध] से है। इन पाँचों को जानने वाला जीव भी अभिन्न ही है। योग और मोक्ष दोनों ज्ञान हैं, अधर्म का कारण अज्ञान है, परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं है, जीव के ५ बन्धन हैं- [१] अनात्म में आत्मबुद्धि [२] आत्मा में अनात्म बुद्धि [३] जीवों में परस्पर भेदज्ञान [४] ईश्वर और आत्मा में भेदबुदि, और [५] चैतन्य अर्थात् परब्रह्म से आत्मा को पृथक् समझने की बुद्धि। ये पाँचों बन्धन भी ज्ञानरूप ही हैं क्योंकि ये सभी ब्रह्मशक्ति के विलास हैं। इन्हीं बन्धों के कारण मनुष्य जन्म मरण के चक्रों में पड़ा रहता है। इसी देह में मोक्ष है। सब कुछ शांभवी [शक्ति] का रूप है। इस मार्ग के साधक के लिये वेद मान्य नहीं हैं। एक मात्र गुरु ही मान्य होता है। मंत्रसिद्धि के पूर्व वेदादि त्याग करना चाहिये, उपासना पद्धति को प्रकट नहीं करना चाहिये। अपना रहस्य शिष्य से भिन्न किसी को नहीं बताना चाहिये। भीतर से शाक्त बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर रहना यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोक निन्दा वर्जनीय है। अध्यात्म यह है- व्रताचरण न करें, नियम पूर्वक न रहें, नियम मोक्ष का बाधक है, सब में समान बुद्धि रखनी चाहिये- ऐसा करने वाला ही मुक्त होता है।

कौल मत को दार्शनिक अर्थ में देखें तो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान को समझना होगा। जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञाता के लिये विषय हैं। अतः जानने का विषय हैं। जानने वाला ज्ञाता और जानने योग्य पदार्थ को ज्ञेय कहते हैं इनकी पारस्परिक क्रिया ज्ञान होती है यह ज्ञान एक प्रकाश होता है दीपवत् अर्थात् ज्ञान को किसी दूसरे ज्ञान से नहीं जाना जाता है जैसे दीपक को देखने के लिये किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं

होती है। यह जगत् ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के रूप में त्रिपुटीकृत है। इस त्रिपुटीकृत जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञानरूप धर्म के एक होने के कारण 'सजातीय' हैं और इसलिये वे 'कुल' [जाति] कहे जाते हैं। यह कुल सम्बन्धी ज्ञान ही कौलज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, जगत् ब्रह्ममय है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है-इस प्रकार का जो परिपूर्ण अद्वैतज्ञान है वही कौलज्ञान है।[१]

'कुल' शब्द का साक्षात्सांकेतित अर्थ वंश है। यह दो प्रकार का होता है-[१] विद्या से [२] जन्म से । गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में इस बात को इस प्रकार कहा गया है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है। नादरूपा और बिन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि गुरुपरम्परा से और बिन्दुरूपा जन्मपरम्परा से चलती है।[२] इस मार्ग में क्योंकि परम शिव से लेकर परम गुरु तक चली आती हुई ज्ञानपरम्परा का ही प्राधान्य है इसलिये विद्याक्रम को ही कुल कहा जाता है। इसी कुल के अनुयायी कौल हैं।

पं. सौभाग्यराय कृत 'ललिता सहस्रनाम' की सौभाग्यभास्कर नाम की टीका में 'कुल' शब्द का एक अर्थ इस प्रकार किया गया है-'कु' का अर्थ पृथ्वी है और 'ल' का लीन होना। पृथ्वी तत्त्व मूलाधार चक्र में रहता है, अतः इसी चक्र को कुल कहते हैं। इसी मूलाधार से सुषुम्ना नाड़ी मिली हुई है, जिसके भीतर से उठकर कुण्डलिनि सहस्रार चक्र में परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है। इसलिये लक्षणा वृत्ति से सुषुम्ना को भी 'कुल' कहते हैं। 'तत्त्वसार' नामक ग्रंथ में कुण्डलिनी को शक्ति रूप बताया गया है। शक्ति ही सृष्टि है, और सृष्टि ही कुण्डलिनी[४] इसलिये कुण्डलिनी को भी कुलकुण्डलिनी कहा जाता है।

---

१. कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० ३६-३८।

२. गो.सि.सं. पृ० ७१।

३. वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
सा पुनः शंकरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव।।गो.सि.सं. पृ० १३

४. तत्त्वासारेऽयमेवार्थो निरुपणपदे कृतः।
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावमता हि सा।। सिं. सि.स. ४/३०११.

कापालिक मत :

इसके प्रवर्तक सिद्ध जालन्धर पाद और उनके शिष्य कृष्णपाद [कान्हूपा कानपा या कानीफा] माने जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन जी के अनुसार कृष्णपाद के तन्जूर में दर्शन पर छः और तन्त्र पर चौहत्तर ग्रंथ मिलते हैं-इससे प्रतीत होता है कि तन्त्र से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था उन्होंने भी स्वंय को तान्त्रिक कहा है और स्वयं को जालन्धर का शिष्य बताया है।

'परवर्ती संस्कृत साहित्य' में शैव कापालिकों का वर्णन मिलता है।[१] कापालिकों की साधना भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करने वाली होती है। शवसाधना से प्रेत सिद्धि होती है तथा देवसाधना से देवता सिद्ध होते हैं।

'चर्चाचर्यविनिश्चय' की टीका में दातड़ीपाद का एक श्लोक उद्‌धृत है इससे 'कापालिक' शब्द की मूल व्युत्पत्ति का आभास मिलता है। इसके अनुसार प्राणी वज्रधर है और जगत् की स्त्रियों को कपालवनिता [अर्थात् कपालिनी] कहा गया है और साधक हेरुक भगवान की मूर्ति है जो उनसे अभिन्न है।[२] प्रतीत होता है कि स्त्रीजन साध्य होने के कारण ही यह साधना कापालिक कही गई हैं। हेरुक को शिव का एक गण भी कहा गया है। उक्त श्लोक से इतना स्पष्टतः समझा जा सकता है कि कापालिक साधना में स्त्री की सहायता आवश्यकता थी। कापालिक साधना चाहें शैवों की हो अथवा बौद्धों की उसमें स्त्री की सहायता आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त यह कापालिक मत परवर्ती नाथपंथियों के समान नाड़ियों और चक्रों में विश्वास करता था, वह जीव और शिव की अभिन्नता में आस्था रखता था तथा योग द्वारा चित्त के चाञ्चल्य को रोकने से ही कैवल्य रूप में अवस्थित शिवरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है, ऐसा मानता था और शक्तियुक्त शिव की प्रभविष्णुता में ही विश्वास रखता था। इस साधना में पंचामृत के आकर्षण से आकाशमार्ग में विचरण करने की शक्ति आती है ऐसा माना जाता था और ये पंचामृत थे-पांच द्रवरस-शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा, और मूत्र। इनका आकर्षण

१. नाथयोग-हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ८०

२. प्राणी वज्रघरः कपाल वनितातुल्यो जगतस्त्रीजनः
सोऽहंहेरुक मूर्तिरेष भगवान यो नः अभिन्नोऽपि च।।

करके ऊपर उठाने की क्रिया से शरीर को वज्रवत् बनाया जा सकता है, अणिमादिक सिद्धियाँ पाई जा सकती हैं। वज्रयानी बौद्ध साधकों में तथा कौलमार्गी तान्त्रिकों मे भी यह विधि हैं नाथमार्ग की व्रजोली साधना को इसी साधना का भग्नावशेष मानना उचित प्रतीत होता है।

तान्त्रिकों की भांति सम्भवतः कापालिक भी ऐसा विश्वास करते थे कि परमशिव ज्ञेय है, उपास्य हैं उनकी शक्ति से शक्तिमय हैं सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान है। 'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः'। परमशिव अरूप और निर्गुण हैं अतः उनका कोई स्वरूप लक्षण नहीं है इसलिये उन्हें 'ऐसा नहीं', 'ऐसा भी नहीं' कहते हैं उन्हें जाना तो जा सकता है किन्तु उपासना शक्ति से ही ऐसा सम्भव है। संस्कृत के महाकवि भवभूति ने अपने नाटक 'मालती माधवम्' में कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीडन और शक्तियों से युक्त शिव के ताण्डव का बड़ा ही प्रभावी वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि कापालिक लोग भी परपशिव को निष्क्रिय निरंजन मानते हुए केवल ज्ञान का विषय [ज्ञेय] समझते हैं।

ये कापालिक लोग रुण्डों की माला पहनते, श्मशान में वास करते और नर-कपाल में भोजन किया करते थे। प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक से पता चलता है कि ये लोग चर्बी, आंत आदि सहित नरमांस की आहुति देते नर कपाल के पात्र में सुरापान करते तथा ताजे मानव रक्त के उपहार से महाभैरव की पूजा किया करते थे और कपालिनी के साथ रहा करते थे। इनके मत में स्त्री के साथ विहार करने के अतिरिक्त कोई सुख नहीं माना गया।

इस प्रकार तामसी जीवन और साधना मार्ग अपनाने से यद्यपि इन्हें प्रेत-सिद्धि हो जाती थी और उसके माध्यम से बड़े बड़े काम भी वे कर पाते थे किन्तु जनसामान्य इनसे भयभीत ही रहता था तथा दूर ही रहने का प्रयास करता था आदर और श्रद्धा के भाव वे लोग नहीं पा सके। फिर भी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करने के कारण वे सिद्ध कहलाये इसी से उनके विषय में यहाँ उल्लेख करना समीचीन प्रतीत हुआ है।

प्रारंभ में हमने सिद्ध कृष्णपाद या कानीफा का उल्लेख किया उनके नाम की आन लेकर सँपेरे आज भी साँपों को वश में करते हैं

और उनके विषदन्त से बचे रहते हैं। कनीफा सपेरा जाति द्वारा गुरु या इष्ट माने जाते हैं।

रससम्प्रदाय :

योग शास्त्र के प्राप्त प्राचीनतम ग्रंथ 'पातञ्जल योग सूत्र' में सिद्धियों की प्राप्ति के पाँच उपाय बताये गये हैं-जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि[१] अर्थात् सिद्ध बनने के लिये यदि पूर्व जन्म के संस्कार पर्याप्त न हों तो औषधि का क्रम प्राप्त होता हैं। वस्तुतः रोग, जरा और मृत्यु से भयाकुल मानव निरोगिता और अमरतत्व प्राप्ति के लिये चिरकाल से प्रयत्नशील है। रोग और वृद्धावस्था दूर करने के लिये आयुर्वेद पुरातन काल से भारतवर्ष में प्रवर्तित है। प्रयास तो मृत्युञ्जय बनने के लिये किये गये किन्तु उनमें सफलता नहीं मिली। इधर सिद्ध सम्प्रदाय में सिद्धदेह की प्राप्ति एक लक्ष्य मानी गयी है इसी प्रयास में महासिद्ध दत्तात्रेय, आदिनाथ, गोरक्षनाथ आदि के द्वारा रसायन शास्त्र का आविष्कार किया गया जो कि पारद शक्ति का प्रकाशक है। पारद में अनन्त शक्तियाँ होती हैं उन्हीं में से एक दिव्य देह की प्राप्ति कराने वाली भी है। वैसे तो पारद का सेवन मृत्यु के मुख मे ढ़केल सकता है किन्तु उसका विधिपूर्वक संस्कार करने के बाद सेवन विलक्षण लाभकारी हो जाता है। पारद को आयुर्वेद में रस कहा गया है और उसकी अद्भुत शक्तियों एवं प्रभावों के कारण ही आयुर्वेद को 'रसशास्त्र' या 'रसायनशास्त्र' अभिधान दिया गया है। आयुर्वेद ग्रंथों में 'रस' अथवा पारद पर नैकविध आविष्कार एवं अनुसंधान किये गये हैं। इससे उसके विचित्र प्रभाव, प्रकाश में आये हैं। सिद्ध गोरक्षनाथ जी के अनेक ग्रंथो में पारद के प्रभावों, का वर्णन है। उसके उपयोग से विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं जिनमें से एक दिव्यदेह की प्राप्ति भी है।

रस के दिव्यप्रभावों के आधार पर ही उस पर बल दिये जाने के कारण 'रस सम्प्रदाय' का पृथक् नामकरण हो गया। रससिद्धान्त की मूल अवधारणा है कि अजर अमर देह धारण किये हुए व्यक्ति को शिव तादात्म्य की प्राप्ति ही जीवनमुक्ति है[१]। मृत्यु होने पर मुक्ति मानना

---

१. जन्मौषधिमन्त्रतपसमाधिजा सिद्धयः। पा.यो.सू. ४।

१. अजरामरदेहस्य शिवतादात्म्यवेदनम्।
जीवन्मुक्ति र्महादेवि! देवानामपि दुर्लभा।।-रसार्णवम् १/८

निरर्थक है[१] क्योंकि मोक्ष के साधन रूप शरीर से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अतः रस एवं रसायनों से शरीर की रक्षा करें[२]। रसार्णवतन्त्र में श्री भैरव पारद के विषय में कहते हैं कि रस तथा वायु मूर्च्छित होने पर व्याधि का नाश करते हैं, मृत होने पर जीवन प्रदान करते हैं तथा बद्ध होने पर आकाश में विचरण करने की शक्ति प्रदान करते हैं।[३]

रस विद्या को इस तन्त्र में सर्वोत्तम विद्या माना गया है वह भुक्ति एवं मुक्ति दोनों को प्रदान करने वाली है।[४]

रस सेवन में एक सूक्ष्म दोष भी बताया गया है कि उससे व्यक्ति तीन सप्ताह में कामान्ध हो जाता है। स्त्री प्रसंग से पारद का देह में क्रामण होता है जिससे देह वज्र सम होती जाती है, अन्यथा अजीर्ण हो जाता है।

रसार्णवम् में पारद के कई भेद, मारणादि संस्कार तथा प्रयोग विधि, लाभ हानि आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

पारद के अतिरिक्त सोमरसपान से अथवा अन्य औषधियों के उपयोग से भी कायाकल्प करके शरीर को पुनः युवा बनाया जा सकता है। यह औषधि आदि सेवन द्वारा चित्त में सात्विक परिणाम होने से होता है। इस सिद्धान्त में आस्था रखने वाले रस सम्प्रदाय से स्वयं को सम्बद्ध करते हैं जिसका प्रारंभ भी गुरु गोरक्षनाथ जी से माना जाता है। वैसे इसका उपदेश दत्तात्रेय ने आदिनाथ को दिया था-ऐसी भी मान्यता है।

सिद्ध साहित्य के ग्रंथों का परिचय :

सिद्ध सम्प्रदाय के प्रथम मानव गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का तो एक ही ग्रंथ 'मत्स्येन्द्र संहिता' प्राप्त होता है किन्तु उनके शिष्य और इस परम्परा के महानतम सिद्ध श्री गोरक्षनाथ के नाम से अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं इनमें कुछ की प्रामाणिकता सन्दिग्ध भी है, किन्तु गोरक्षनाथ के पहले भी योग की बड़ी जबरदस्त परम्परा थी जो ब्राह्मणों और बौद्धों में समानरूप से

---

१. पिण्डपाते च यो मोक्षः स च मोक्षो निरर्थकः। रसार्णवम् १/९

२. तस्मात् संरक्षयेत् पिण्डं रसैचैव रसायनैः। वही १/११

३. मूर्च्छितो हरते व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्य्यात् रसो वायुश्च भैरवि।। वही १/१९–तथा हठयोग प्रदीपिका ३/२७

४. रस विद्या पराविद्या त्रैलोक्येऽपि सुदुर्लभा।
भुक्तिमुक्तिकरी यस्मात् तस्माद्देया गुणान्वितैः।। वही १/४६

मान्य थी। इसका एक विशाल साहित्य था। अनेकों उपनिषदों में योग की चर्चा हुई है। कई पुराणों में भी योग का विषय चर्चित रहा है साथ ही बौद्ध साहित्य में काय योग का प्रचुर साहित्य पाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध गोरक्षनाथ ने इन सभी का सार संग्रह किया होगा। यद्यपि प्राचीन ग्रंथो में से अनेक लुप्त हो गये हैं किन्तु आज भी योगसाधना बताने वाली अनेक उपनिषदें प्राप्त होती हैं यथा मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से सन् १९२०ई० में 'योग उपनिषद:' नामक एक उपनिषद् संग्रह प्रकाशित हुआ है इसके सम्पादक डा० महादेव शास्त्री हैं। ये सभी उपनिषदें ११८ उपनिषदों के रूप में प्रकाशित हुई हैं। शास्त्री जी ने इनमें ब्रह्मयोग की व्याख्यायें भी दी है। इस संग्रह में उपनिषदों के नाम हैं-

१. अद्वयतारकोपनिषत्
२. अमृतनादोपनिषत्
३. अमृतबिन्दूपनिषत्
४. क्षुरिकोपनिषत्
५. तेजोबिन्दूपनिषत्
६. त्रिशख ब्रह्मणोपनिषत्
७. दर्शनोपनिषत्
८. ध्यान बिन्दूपनिषत्
९. नादबिन्दूपनिषत्
१०. पशुपतब्रह्मोपनिषत्
११. ब्रह्मविद्योपनिषत्
१२. मण्डल ब्राह्मणोपनिषत्
१३. महावाक्योपनिषत्
१४. योग कुण्डल्युपनिषत्
१५. योगचूड़ामण्युपनिषत्
१६. योगतत्वोपनिषत्
१७. योगशिखोपनिषत्
१८. वराहोपनिषत्
१९. शाण्डिल्योपनिषत्
२०. हंसोपनिषद्

सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरिज में गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसका सम्पादन म.म. पं. गोपीनाथ कविराज ने किया है इसमें पुराने ५८ ग्रंथों के प्रमाण संग्रहीत हैं इनमें से अनेक अब अनुपलब्ध है।

उद्धृत पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं-

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
२. अवधूत गीता
३. सूत संहिता
४. ब्रह्मबिन्दूपनिषत्
५. शक्ति संगम तंत्र
६. हठयोग प्रदीपिका
७. सिद्धान्त बिन्दु
८. शाबरतन्त्र

९. कैवल्योपनिषत्
१०. तेजोबिन्दूपनिषत्
११. अमनस्कयोग
१२. विवेकमार्तण्ड
१३. ध्यानबिन्दूपनिषत्
१४. मुण्डकोपनिषत्
१५. आत्मोपनिषत्
१६. अमृतबिन्दूपनिषत्
१७. मनुस्मृति
१८. उत्तरगीता
१९. वायुपुराण
२०. मार्कण्डेय पुराण
२१. गीता
२२. तंत्रमहार्णव
२३. क्षुरिकोपनिषत्
२४. गोरक्षोपनिषत्
२५. बृहदारण्यकोपनिषत्
२६. छान्दोग्योपनिषत्
२७. कालाग्निरुद्रोपनिषत्
२८. ब्रह्मोपनिषत्
२९. सर्वोपनिषत्
३०. राजगुह्य उप.
३१. ब्रह्मवैवर्त पुराण
३२. परहंसोपनिषत्
३३. श्रीनाथ सूत्र
३४. षोडशनित्यातन्त्र
३५. षट्शांभव रहस्य
३६. पद्मपुराण
३७. महाभारत
३८. कवेषयगीता
३९. ब्रह्मवर्चस्ब्राह्मण
४०. सतनूसजातीय
४१. शिवोपनिषत्
४२. माण्डूक्योपनिषत्
४३. भागवत्
४४. योगबीज
४५. गोरक्षस्त्रोत
४६. कपिलगीता
४७. कल्पद्रुमतंत्र का गोरक्ष सहस्रनाम
४८. सारसंग्रह
४९. स्कन्दपुराण
५०. रुद्रयामल
५१. तारासूक्ति
५२. कुलार्णव तंत्र
५३. वायुपुराण
५४. सूत संहिता
५५. आदिनाथ संहिता
५६. शिवपुराण
५७. योगशास्त्र
५८. अखण्डखण्ड

यह बता पाना सम्भव नहीं लगता कि इन सारे ग्रंथों में कौन सी कृतियाँ गोरक्षनाथ से पूर्व की हैं-तथा कौन सी उनके बाद की। डॉ० डायसन ने कालक्रम से इन उपनिषदों को चार भागों में विभक्त किया है।

१. प्राचीन गद्य उपनिषत्
२. प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषत्

३. परवर्ती गद्य उपनिषत्

४. आथर्वण उपनिषत्।

डॉ० डायसन ने उपर्युक्त उपनिषदों को क्रमशः परवर्ती कहा है किन्तु उन्होंने आथर्वण उपनिषद् की संज्ञा क्यों दी यह स्पष्ट नहीं है क्योंकि २० योगोपनिषदों में से कोई भी अथर्ववेद से सम्बद्ध नहीं लगता है डायसन के अनुसार उन्हें परवर्ती मानना उचित जान पड़ता है। इसके कारण [१] षडंगयोग गोरक्षनाथ आदि द्वारा प्रवर्तित हुआ था [२] हठयोगियों ने आसनों की संख्या अधिक मानी है [३] नादानुसन्धान सिद्धों की ही विशिष्ट साधना है। उक्त योगोपनिषदों में ये तीनों बातें मिलने के कारण यह मानना समीचीन प्रतीत होता है कि इनमें से कई उपनिषदें गोरक्ष परवर्ती है। 'अमृतनाद', 'क्षुरिका', 'ध्यानबिन्दु', और योग चूडामणि आदि उपनिषदों में षडंग योग की चर्चा है, 'दर्शनोपनिषद्' में नौ और 'त्रिशिख ब्राह्मण' में अठारह आसन बताए गये हैं। 'ब्रह्मबिन्दु' और 'ब्रह्मविद्या' आदि उपनिषदों में नादानुसन्धान का उल्लेख है, योग तत्त्व, योगशिक्षा और योगराज उपनिषदों में चार प्रकार के योग और प्राणायाम समीकरण की विधि है। कई उपनिषदों में जालन्धर और उड्डियान बन्धों की चर्चा है। इनका परवर्ती होना निश्चित नहीं है- कुछ में प्राचीनता के चिह्न अवश्य है- किन्तु गोरक्ष के इन पर प्रभाव को नहीं नकारा जा सकता है।

जहाँ तक गोरक्षनाथ प्रणीत ग्रंथो का प्रश्न है निम्नलिखित पुस्तकें उनकी प्रणीत मानी जाती है।

१. **अमनस्क योग**-इसकी एक प्रति बड़ौदा के पुस्तकालय में है। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में इसके बहुत से वचन उद्धृत हैं।

२. **अमरौघशासनम्**- श्री सिद्ध गोरक्षनाथ विरचित यह पुस्तक कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि [ग्रंथ क्र०२०] में प्रकाशित हुई और महामहोपाध्याय पं. मुकन्दराम शास्त्री के द्वारा संपादित है।

३. **अवधूतगीता**- गो.सि.सं. पृ० ७५ में गोरक्षकृत कही गई है।

४. **गोरक्षकल्प**- फर्कुहर, और ब्रिग्स की पुस्तकों में इसका उल्लेख किया गया है।

५. **गोरक्षकौमुदी**- इसका उल्लेख भी फर्कुहर और ब्रिग्स ने किया है।

६. **गोरक्षगीता**- फर्कुहर की पुस्तक में इसकी चर्चा है

७. **गोरक्षचिकित्सा**- इसका उल्लेख केवल आर्फेख्ट ने किया है।

८. **गोरक्ष पञ्चम**- ब्रिग्स ने ही इसकी चर्चा की है।

९. **गोरक्षपद्धति**- इसमें २०० संस्कृत श्लोकों का संग्रह है। महीधर शर्मा ने इस पर टीका लिखी है 'गोरक्षशतक' नाम से इसका प्रथमशतक छप चुका है। दूसरे शतक का नाम गोरक्षशास्त्र भी बताया गया है।

१०. **गोरक्षशतक**- यह गोरक्ष का ही 'प्रथम शतक' है। ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक में इसको रोमन अक्षरों में छापा है। इनके मत से यह पुस्तक गोरक्षनाथ की सच्ची रचना जान पड़ती है। नेपाल दरबार के पुस्तकालय में इसकी हस्तलिखित प्रति भी सुरक्षित है। ऐसा डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने कौलावलि निर्णय में लिखा है। इसी पुस्तक के दो और नाम भी प्रचलित हैं, ज्ञान प्रकाश और ज्ञान प्रकाश शतक।

११. **गोरक्ष शास्त्र**- यह गोरक्ष पद्धति का दूसरा शतक है।

१२. **गोरक्ष संहिता**- इसका नाम प्रायः सभी सूचियों में प्राप्त होता है डॉ. वागीश ने इसका सम्पादन किया और सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि. वि. वाराणसी से इसका प्रकाशन हुआ है।

१३. चतूरशीत्यासन।

१४. ज्ञानामृत योग।

१५. **नाड़ीज्ञान प्रदीपिका**- उक्त तीनों [१३ से १५ क्रं. तक] का उल्लेख आर्फेख्ट ने किया है किन्तु उपलब्ध नहीं हैं।

१६. **महार्थमंजरी**- यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि [न.११] में छपी है। इस पर महेश्वरानन्द नाथ का नाम छपा है-काश्मीरी परम्परा के अनुसार यह गोरक्षनाथ का ही नाम है। इसका सम्पादन म.म.पं. मुकुन्दराम शास्त्री ने किया है। यह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण रचना है

१७. योगचिन्तामणि।

१८. योगमार्तण्ड।

१९. **योगबीज**- गो.सि.सं. में इसके उद्धरण प्राप्त हैं।

२०. **योगसिद्धान्तपद्धति**- इसकी चर्चा भी आर्फेख्ट ने की है।

२१. **विवेकमार्त्तण्ड**- इसके भी उदाहरण गो.सि.सं. से मिलते हैं साथ ही गोरक्ष शतक में भी कुछ श्लोक पाए जाते हैं। आर्फेख्ट ने इसे गोरक्षकृत ही माना है।

२२. **श्रीनाथ सूत्र**- इसके कुछ वचन गो.सि.सं. में है।

२३. **सिद्ध सिद्धान्त पद्धति**- ब्रिग्स को छोड़ सभी ने इसे गोरक्षनाथ द्वारा रचित माना है। ब्रिग्स इसके ग्रंथकार का नाम नित्यानंद बताते है और गो.सि.सं. में भी नित्यनाथ विरचिता कहा गया है।

२५. हठसंहिता।

२४. **हठयोग**- ये दोनों पुस्तकें भी उपलब्ध नहीं है केवल आर्फेख्ट ने इनके उल्लेख किये हैं।

सिद्ध सिद्धान्त संग्रह और गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के अनेक श्लोक उद्धृत हैं इनमें से अमनस्कयोग, अमरौघशासनम् गोरक्ष पद्धति गोरक्ष संहिता और सिद्ध सिद्धान्त पद्धति अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्न हैं। इन सबके आधार पर गोरक्षनाथ के मत का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस विषय में गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह बहुत ही उपयोगी पुस्तक है।

इनके अतिरिक्त गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाएं भी हैं। इनका सम्पादन डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने बड़े श्रम से किया है। यह ग्रंथ गोरखबानी नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है।

कौलज्ञान निर्णय :

इस ग्रंथ से ही ज्ञात होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ कौलमार्ग के प्रथम प्रवर्तक थे। इसमें उपलब्ध प्रमाणों से ही यह भी ज्ञात होता है कि यह कौलमार्ग एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल से और परम्पराक्रम से चला आ रहा है तथा कौलों के कई सम्प्रदाय थे। १४वें पटल में रोमकूपादि कौल, वृषणोत्थ कौलिक, वल्निकौल, कौल सद्भाव और पदोत्तिष्ठ कौल शब्द आये हैं। इसी के १६वें पटल के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि युग में जो कौलज्ञान था वह द्वितीय अर्थात् द्वापर में सिद्धामृत नाम से और कलिकाल में मत्स्योदरकौल नाम से प्रकट हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि महाकौल के बाद सिद्धकौल और सिद्धकौल के बाद मत्स्योदर का अवतार धारण हुआ। प्रथम युग में उनके द्वारा निर्णीत ज्ञान का नाम था 'कौलज्ञान' द्वितीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धकौल' तृतीय में निर्णीत ज्ञान का नाम सिद्धामृत और चतुर्थ युग में अवतारित ज्ञान का नाम 'मत्स्योदर' है। मत्स्योदर से विनिर्गत ज्ञान का नाम योगिनीकौल है। यह कौलज्ञान सिद्धि परक विद्या है।

यह ग्रंथ डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित होकर कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं. ३ कलकत्ता से १९३४ में प्रकाशित है।

कौलावली- तान्त्रिक टेक्स्ट की जिल्द १४ में कलकत्ता से प्रकाशित एवं आर्थर एबेलेन द्वारा संपादित है।

घेरण्ड संहिता- 'सेक्रेड बुक आफ दि हिन्दूज, प्रयाग १८९५' में प्रकाशित है।

योगिसम्प्रदायाविष्कृति- चन्द्रनाथ योगी द्वारा सम्पादित अहमदाबाद से १९२४ में प्रकाशित है।

अध्याय-तृतीय

साधक के लिये निर्दिष्ट आचार

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में इस विषय में प्रकाश डाला गया है यद्यपि नाथयोगियों की आचार में उतनी आस्था नहीं हैं क्योंकि उनका मत है कि आचार का अत्याचार के साथ कैसे निर्वाह हो सकता है? गो.सि.सं. में कहा गया है कि भोजन में जो रहता है वह चर्मपात्र से ही आता है चलने में जो जूता पहनते है वह चमड़े का ही होता है और व्यक्ति को स्पर्श करता है। सोने में जो स्त्री संग होता है उसकी तो बात ही क्या। प्रातः काल यद्यपि शुद्धि के लिये स्नान करते हैं तथापि चारों प्रहरों में मुखादि का स्पर्श स्वभावतः होता ही है। सूर्यादि ग्रहण के समय मिट्टी के बरतन पानी आदि सस्ती चीजों को तो फैंक देते हैं किन्तु घी धान्य आदि को नहीं क्योंकि व महंगे होते हैं। वस्तुतः विचार मुख्य होते हैं, यह हठयोग का सिद्धान्त है इसका अर्थ यह नहीं कि आचार है ही नहीं। सिद्धों कें मत में आचार है किन्तु विचार पूर्वक।

सिद्ध सम्प्रदाय के अनुसार स्थूल आचार विधि कुछ इस प्रकार है- प्रातः उठकर गुरु का स्मरण करके शौचादि क्रिया दन्तधावन और स्नान करके नाथालय [देवमंदिर] मे जाकर पूजा करनी चाहिये। पूजा के बाद भोजन करना चाहिये। शाम को हाथ पैर धोकर सांयकालोचित रीति से पूजा करनी चाहिये। शौच के बाद एकादशबार मृत्तिका और जल से हस्त प्रक्षालन, एक या दो धड़े जल से स्नान तो आचार है इससे अधिक या कम तो आचार निषेध ही है। व्यर्थ के कार्यो अथवा गौण [अमुख्य] कार्यों में समय क्यों बिताना इससे मुख्य कार्य के लिये अवसर नहीं

मिलता है और फिर कष्ट से प्राण निकलते हैं [मृत्यु होती है] प्राणरक्षा के बिना मन स्थिर नहीं होता और मन की स्थिरता के बिना कभी किसी काल में मोक्ष नहीं होता । इसी कारण महान् सिद्धजन योग में ही लगे रहते हैं अन्य असत्य बातों में नहीं भटकते। सिद्धों का मुख्य ध्येय होता है अन्तरंग अथवा मनः शुद्धि तदर्थ। हठयोग की कुछ क्रियायें उपायरूप में स्वीकार की गईं। वस्तुतः प्राणायाम इस चित्तैकाग्र्य में प्रमुख भूमिका निभाता है और प्राणायाम सही ढंग से सम्भव हो इसके लिये नाड़ी शोधन उपाय है। नाड़ी शोधन को शरीर शोधन भी कह सकते है। पतञ्जलि मुनि ने नियमों के अन्तर्गत जिस शौच की बात कही थी उसे हठयोग में नाड़ी शोधन के षट्कर्म के रूप में व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया गया। ये षट्कर्म हैं-

षट्कर्म :

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिस्त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत्।।[१]

अर्थात् धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक और कपाल भाँति इन छः कार्यों को [शरीर शोधन हेतु] करें।

[१] **धौति-** धौति तीन प्रकार की होती है- वारिधौति, ब्रह्मदातौन और वास धौति।

[२] **वारिधौति-** अर्थात् कुंजर क्रिया- खाली पेट लवण मिश्रित गुनगुना पानी पीकर छाती हिलाकर तथा गले में उगंली डालकर वमन द्वारा पानी निकाल दिया जाता है। इसे गजकरणी भी कहते हैं, क्योंकि जैसे हाथी सूँड से जल खीचंकर फेंकता है उसी प्रकार इसमें जल पीकर निकाला जाता है। आरम्भ में यह कार्य कुछ कठिन होता है किन्तु अभ्यास से निकलने लगता है तब वह पेट के विकारों कफ़ पित्तादि को भी बाहर कर देता है।

---

१. गोरक्ष संहिता।

ब्रह्म दातौन :

सूत की बनी हुई बारीक रस्सी के टुकड़ें को अथवा रबड़ की ट्यूब को लवण मिश्रित गुनगुने पानी को खाली पेट पीने के पश्चात बिना दांत लगाये गले से दूध के घूंट के सहश निगला जाता है फिर छाती हिलाकर इसको निकाल सारे पानी को वमन कर दिया जाता है।

वास धौति [वस्त्र धौति] :

धौति लगभग चार अंगुल चौड़ी लगभग, पन्द्रह हाथ लम्बी बारीक मलमल जैसे कपड़े की होती है। खाली पेट पानी अथवा आरम्भ में दूध में भीगी हुई धौति के एक सिरे को अंगुली से हलक में ले जाकर बिना दांत लगाये धीरे धीरे दूध के घूंट सदृश निगला जाता है आरंभ में निगलना कठिन होता है और उल्टी आती है, अतः एक घूंट गुनगुने पानी के साथ निगली जाती है। प्रतिदिन थोड़ी थोड़ी कर अभ्यास बढ़ाना उचित होता है। अभ्यास से जब धौति जाने लगे तो थोड़ा हिस्सा बाहर रखकर नौली चालन करके धौति तथा सब पिये हुए पानी को वमन के सदृश निकाल दिया जाता है। इन क्रियाओं से कफ और पित्त रोग दूर होकर शरीर शुद्ध और हल्का हो जाता है और तब मन सुगमता से एकाग्र होने लगता है।

घेरण्डसंहिता में धौति कर्म के चार भेद वर्णित हैं-

१- अन्तर्धौति

२- दन्तधौति

३- हृद्धौति

४- मूलशोधन

[१] **अन्तर्धौति**- इसके भी चार भेद बतलाये हैं- [क] वातसार [ख] वारिसार [ग] वह्निसार [घ] बहिष्कृत।

[क] वातसार अन्तर्धौति :- मुख को कौए की चोंच के सदृश करके अर्थात् दोनों होठों को सिकोड़कर धीरे धीरे वायु का पान करें। यहाँ तक कि पेट में वायु पूर्णतया भर जाय फिर वायु को पेट के अन्दर चारों ओर संचालित करके धीरे धीरे नासिका पुट द्वारा निकाल दें। इसे काकी मुद्रा या काकी-प्राणायाम भी कहते हैं इससे हृदय, कण्ठ और पेट की व्याधियाँ दूर होती हैं, शरीर शुद्ध और निर्मल होता है, क्षुधा बढ़ती है, मन्दाग्नि नाश, फेफड़ों का विकास, कण्ठ में सुरीलापन आता है। वीर्य के लिये भी लाभकारी है।

[ख] वारिसार अन्तर्धौति :- इसमें मुख द्वारा धीरे धीरे जल पीकर कण्ठ तक भर लिया जाता है फिर उदर में चारों और संचालन करके गुदाद्वार से निकाल दिया जाता है।

इसके फलस्वरूप देह निर्मल होती है, कोष्ठ बद्धता तथा पेट के सभी रोग दूर होते हैं शरीर शुद्ध होकर कान्तिमान् बनता हैं। इस क्रिया को शंख प्रक्षालन भी कहते हैं। क्योंकि शंख के चक्राकार मार्ग में पानी डालने पर घूमता हुआ जल जिस प्रकार बाहर आ जाता है, उसी प्रकार मुख से जल पीने पर कुछ समय बाद मल को साथ लेकर आतों को शुद्ध करता हुआ गुदाद्वार से बाहर आ जाता है। यह क्रिया बहुत से रोगों को हटाने वाली और स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है।

[ग] वह्निसार अन्तर्धौति :- नाभि की गाँठ को मेरुपृष्ठ में सौ बार लगावें अर्थात् उदर को इस प्रकार बार बार फुलावें-सिकोड़ें कि नाभि ग्रन्थि पीठ में लग जाया करे। इससे उदर के समस्त रोग नष्ट होते है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

[घ] बहिष्कृत अन्तर्धौति :- कौए की चोंच के समान मुख बनाकर इतनी मात्रा में वायु को पिये कि पेट भर जाए फिर उस वायु को डेढ़ घटें तक (अथवा यथाशक्ति) पेट में धारण किये रहें। तत्पश्चात् गुदामार्ग द्वारा बाहर निकाल दें। जब आधेपहर तक वायु को रोकने का अभ्यास हो जाए तभी इस क्रिया को करें अन्यथा वायु कुपित भी हो सकती है।

इस क्रिया से सब नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। यह जितनी कठिन है उतने ही इसके लाभ अकथ्य और अगम्य हैं।

[२] **दन्तधौति :-** यह भी चार प्रकार की होती है [क] दन्तमूल [ख] जिह्वामूल [ख] कर्णरन्ध्र और [घ] कपालरन्ध्र।

[क] **दन्तमूलधौति :-** खैर का रस, सूखी मिट्टी अथवा अन्य किसी औषधि-विशेषों से दाँतों की जड़ को अच्छी तरह साफ करें।

[ख] **जिह्वामूल-धौति :-** तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को गले के भीतर डालकर जीभ को जड़ तक बार बार घिसें। इस प्रकार धीरे धीरे कफ के दोष को बाहर निकाल दें।

[ग] **कर्णरन्ध्र धौति :-** तर्जनी और अनामिका उँगलियों के योग से दोनों कानों के छिद्रों को साफ करें, इससे एक प्रकार का नाद प्रकट होता बतलाया गया है।

[घ] **कपालरन्ध्र धौति :-** निद्रा से उठने पर, भोजन के अन्त में और सूर्य के अस्त होने पर सिर के गढ़े को दाहिने हाथ के अंगूठे द्वारा प्रतिदिन जल से साफ करें। इससे नाडियाँ स्वच्छ हो जाती है और दृष्टि दिव्य होती है।

[३] **हृद्धौति :-** इसके तीन भेद हैं [क] दण्ड धौति, [ख] वमनधौति और [ग] वास-धौति।

[क] **दण्डधौति :-** केले के दण्ड, हल्दी के दण्ड, चिकने बैत के दण्ड अथवा वटवृक्ष की जटा को धीरे धीरे हृदयस्थल में प्रविष्ट कर दें, फिर हृदय को चारों ओर घुमाकर युक्तिपूर्वक बाहर निकाल देते हैं इससे हृदय के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं इसको भोजन के पूर्व करना चाहिये।

[ख] **वमन धौति :-** भोजन करने के पूर्व कण्ठ तक पानी पीकर भर लें और थोड़ी देर तक ऊपर की ओर लेकर उस पानी को

मुखद्वारा बाहर निकाल दें। पानी कण्ठ के अन्दर न जाने पावे। इससे कफ दोष और पिन्तदोष दूर होते हैं।

[ग] वास-धौति :- लगभग छः अंगुल चौड़ा और लगभग अठारह हाथ का बारीक वस्त्र किंचित् उष्ण जल से भिगोकर गुरु के बताए हुये क्रम से थोड़ा थोड़ा बढ़ाते हुए युक्तिपूर्वक अन्दर लें और फिर धीरे धीरे बाहर निकाल दें। भोजन के पहले ही इसे करें। इससे गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ एवं पित्त आदि अन्य विकार नष्ट होते हैं।

[४] मूलशोधन [गणेश] क्रिया :- कच्ची मूली की जड़ से अथवा तर्जनी अंगुली से यत्नपूर्वक सावधानी से जल द्वारा गुदा द्वार को साफ करें। इसके पश्चात् घृत या मक्खन उस स्थान पर लगाना अधिक लाभकारी है। इससे उदररोग का काठिन्य दूर होता है। ऑव जनित एवं अजीर्ण जनित रोग उत्पन्न नहीं होते, शरीर की पुष्टि और कान्ति की वृद्धि होती है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करती है। सब प्रकार के अर्शरोग तथा वीर्यदोष भी दूर होते हैं।

२- **वस्ति**- वस्ति मूलाधार के निकट है। इसके साफ करने के कर्म को वस्तिकर्म कहते हैं। एक चिकनी नली को गुदा में ले जाकर नौलिकर्म की सहायता से गुदा मार्ग से वस्ति में जल चढ़ाया और निकाला जाता है साधारणतः यह क्रियाकठिन है इसके स्थान पर एनिमा से काम लिया जा सकता है। इससे आंतों का मल जल से मिलकर पतला हो जाता है और आसानी से बाहर निकल जाता है।

घेरण्डसंहिता में वस्ति का निरुपण इस प्रकार है-

वस्ति के दो भेद है-[१] जल वस्ति [२] पवनवस्ति।

जलवस्ति :- किसी बड़े पात्र में नाभिपर्यन्त जल भरवाकर अथवा नदी, तालाब आदि में, जिनका जल शुद्ध हो, उत्कुटासन लगाकर बैठ जाये गुदामार्ग का आकुञ्चन और प्रसारण इस प्रकार करें जैसे अश्वादि मल त्याग के पश्चात् क्रिया करते हैं। इससे प्रमेह, कोष्ठ की क्रूरता आदि रोग दूर होते हैं।

पवन वस्ति :- भूमि पर पश्चिमोत्तान होकर लेट जायें, फिर अश्विनि मुद्रा द्वारा धीरे धीरे वस्ति का चालन करें अथवा गुदा मार्ग का आकुञ्चन और प्रसारण करें। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होकर उदरगत आँव वात आदि रोगों को दूर करती है।

३- नेति [क] नेतिकर्म के लिये महीन सूत के १०-१५ तार से बटी हुई एक डोरी की आवश्यकता होती है जिसका एक किनारा नोकदार होता है। नेति को पानी में भिगोकर उसके नोकदार सिरे को एक हाथ से नासिका द्वारा गले में ले जाकर दूसरे हाथ से पकड़ा जाता है। तत्पश्चात् एक दो बार चलाकर मुख से निकाल दिया जाता है। इसी प्रकार दूसरे नासिका छिद्र से भी ऐसा किया जाता है। इस क्रिया से मस्तिष्क तथा गले की सफाई, नाक, कान आँख, दांत के दर्द दूर होते हैं और नेत्रज्योति बढ़ती है। बारीक मलमल के कपड़े या रबड़ की पतली नली से भी नेति बनाई जा सकती है।

[ख] जलनेति :- क्रम से दोनों नासिका छिद्रों से जल को पीते हुए मुंह से अथवा दूसरे नासिका पुट से निकालने की क्रिया है यह।

[ग] कपालनेति :- मुँह में पानी भरकर नासिका छिद्रों से निकाला जाता है।

इन दोनों से भी सूतनेति जैसे लाभ होते हैं।

४- नौली :- यह बहुत कठिन क्रिया है इसलिये इसे तीन भागों में विभक्त करके इसका प्रयास करने में आसानी होती है।

पहला भाग- सीधा खड़ा होकर उदर की वायु को बाहर निकालना। दोनों हाथों से दोनों घुटनों को दबाकर पूरा उड्डीयान करके अर्थात् पेट को पीठ से मिलाकर दोनों नलों को उभारा जाता है। इसके लिए पहले उड्डीयान का अभ्यास पक्का करना होता है। उसके पश्चात् नले स्वयं बाहर उठने लगते हैं।

दूसरा भाग :- एक एक नले को बारी बारी से निकाला और घुमाया जाता है। पहले नले निकालने का अभ्यास किया जाता है उसके बाद घुमाने का।

तीसरा भाग :- दोनों नलों को बाहर निकालकर पहले एक ओर से फिर दूसरी ओर से घुमाया जाता है। इस क्रिया को शौच के बाद खाली पेट करना चाहिये।

फल :- यह क्रिया हठयोग की छः क्रियाओं में सबसे उत्तम मानी गयी है। इससे गोला, तिल्ली, मन्दाग्नि, ऑव, वात, पेडू का कड़ापन, पेचिस, संग्रहणी, आदि पेट के सारे रोग दूर हो जाते है तथा वात, पित्त कफ त्रिदोष एक साथ दूर हो जाते हैं।

५- त्राटक :- किसी सुखासन पर बैठकर धातु या पत्थर की बनी हुई किसी छोटी चीज अथवा कागज पर काला बिन्दु बनाकर अथवा दीपक अथवा अगरबत्ती जलाकर बिना पलक झपकाये देखते रहना त्राटक है। स्फटिक के यंत्र पर त्राटक करने से किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। नेत्र ज्योति बढ़ती है, स्वास्थ्य सुधरता है मन स्थिर होता है, चित्त शान्त होने से प्रसन्नता आती है। किसी इष्ट मन्त्र के साथ करने से शीघ्र सफलता मिलती है। रात्रि के समय घी या तिल के तेल की बत्ती के प्रकाश में स्फटिक को देखते हुए त्राटक करना अधिक लाभकारी होता है। यंत्र पर श्वास प्रश्वास की गति की भावना करते रहने से पहले बहिः कल्पिता तत्पश्चात् निरन्तर अभ्यास से बहिः अकल्पिता वृत्ति की सिद्धि होती है। त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ जाती है। इसलिये इस क्रिया के करने वाले को नेति, जल नेति करना तथा नेत्रों को त्रिफला अथवा हड़ अथवा गुलाबजल से धोना चाहिये, और नेत्रो का व्यायाम यथा शान्ति के साथ दृष्टि को दाँये बाँये ऊपर नीचे शनैः-शनैः चलाने की क्रिया करनी चाहिये।

कई आचार्यों ने त्राटक के तीन भेद बतलाये हैं :-

[क] आन्तर त्राटक :- नेत्र मूंदकर भ्रूमध्य, हृदय, नाभि आदि

आन्तरिक स्थानों में चक्षु वृत्ति की भावना करके देखते रहना आन्तर त्राटक है।

[ख] मध्य त्राटक :- किसी धातु अथवा पत्थर की बनी वस्तु पर अथवा काली स्याही से कागज पर लिखे हुए ओऽम् अथवा बिन्दु पर अथवा नासिकाग्र भ्रूमध्य अथवा अन्य किसी समीपवर्ती लक्ष्य पर खुले नेत्रों से टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य त्राटक है।

[ग] बाह्य त्राटक :- चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, प्रातः उदय होते हुए सूर्य अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं।

६. कपाल भाति-घेरण्ड संहिता में कपालभाति के तीन भेद बतलाये हैं-

[क] वातकर्म कपाल भाति [ख] व्युत्कर्म कपाल भाति

[ग] शीतकर्म कपालभाति

[क] **वातकर्म कपाल भाति**- सुखासन से बैठकर दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नथुने को थोड़ा दबाकर बायें नथुने से बलपूर्वक वायु को अन्दर खीचें और बिना रोके तुरन्त ही अनामिका कनिष्ठिका अंगुलियों से बायें नथुने को बन्द करके दाहिने नथुने से पूरी वायु बाहर निकालें फिर दायें से वायु अन्दर खींचकर बायें से बाहर निकालें। इस प्रकार अत्यन्त शीघ्रता से क्रमशः रेचक पूरक प्राणायाम को कपालभाति कहते हैं। आरंभ में दस बार करें फिर धीरे धीरे बढ़ाते जायें इससे नाड़ी शोधन सिद्ध होता है। मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होकर पाचन शक्ति प्रदीप्त होती है तथा कफ़ जनित रोग दूर होते हैं नाक, श्वास, नाड़ी तथा फेफड़े शुद्ध होते हैं। श्वासरोग तथा क्षयरोग के लिये लाभदायक है। कुण्डलिनी जागृत् करने और मन की स्थिरता हेतु अभ्यास आरम्भ करते समय इस क्रिया का करना प्रशस्त है। कपालभाति को निम्न दो विधियों से भी किया जाता है।

दूसरी विधि- दोनों नासिका पुटों से एक साथ उपर्युक्त रीति से वायु को अन्दर खींचना और बाहर छोड़ना।

तीसरी विधि- दक्षिण नासापुट बन्द करके बाम नासापुट से उपर्युक्त रीति से पूरक रेचक करना, इसी प्रकार बाम नासिकापुट बंद करके दक्षिण नासिका पुट से उसी संख्या में पूरक रेचक करना।

[ख] **व्युत्कर्म कपालभाति**-नासारन्ध्रों से जल पीकर मुख से निकाल दें। इसे भी अनुलोम और विलोम रीति से क्रिया जाता है।

[ग] **शीतकर्म कपालभाति** - मुँह में पानी भरकर नासिका छिद्रों से निकालना।

उपर्युक्त षट्कर्म प्रारम्भिक साधक के लिये नाड़ी शोधन हेतु आवश्यक हैं क्योंकि वात पित्त कफ़ से भरे शरीर से न तो आसन सिद्ध हो सकते है न ही उचित रीति से प्राणायाम किया जा सकता है। इन क्रियाओं से शरीर के विकार दूर होकर हल्कापन और स्फूर्ति आती है तथा इन्द्रियों का संयम करने में सरलता होती है। कुण्डलिनी जागरण का मार्ग प्रशस्त होता है। हर प्रकार के साधक के लिये षटकर्मों का करना वरेण्य है। योगी की दिनचर्या का अंग इनमें से सब नहीं तो कुछ तो बने रहने चाहिये यथा वस्ति [एनिमा] नेति धौति आदि।

साधक का भोजन :- योग साधक को सिद्धि प्राप्ति हेतु 'हठयोग प्रदीपिका' में लिखा है :-

अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा। ११/१/५९

इसमें मिताहारी शब्द की व्याख्या अगली पंक्ति में इस प्रकार की गयी है-

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥ ६०॥

अर्थात् उदर का चतुर्थांश खाली छोड़ते हुए स्निग्ध, मधुर आहार को

प्रभु प्रसाद रूप में ग्रहण करें। मधुर और चिकने भोजन में घी, दूध, बादाम, मेवे, अंजीर, मुन्नका, मधुर फल जैसे मीठा संतरा, अनार, मौसम्मी, अँगूर, सेब, केला, आडूखुबानी, दाल मूंग, सब्जी लौकी, पपीता, आदि बताये गये हैं कड़वे, खट्टे, नमकीन भोजन का त्याग कर दूध का सेवन करने वाले को प्रशस्त योगी कहा गया है।

कट्वम्ललवण त्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्।
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ॥ सि.सि.प.४४

हठयोग प्रदीपिका में भी वर्णित भोज्य पदार्थों का वर्णन है-

कट्वम्ल तीक्ष्ण लवणोष्ण हरीतशाक
सौवीरतैल तिल सर्षप मद्यमत्स्यान्।
अजादि मांस दधि तक्र कुलत्थ कोल
पिण्याक हिंगु लशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ६१

साथ ही दुबारा गर्म किये, रुखे, अधिक नमक खटाई आदि मसालेदार भोजन को भी वर्जित माना गया है।[१] विहित भोजन में गेहूं, चावल, जौ, शास्टिक [जंगली चावल] दूध, घी, शक्कर, मक्खन, गन्ना, शहद, सोंठ, परवल, लौकी, तुरई, आदि सब्जियाँ, मूंग शुद्धजल, को योगी के लिये अति लाभदायक बताया गया है।[२]

गीता में भी 'युक्ताहार विहारस्य............[३] कहकर उचित मात्रा में आहार की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है।[४]

मांस, मंदिरा, भंग, सुलफा, सिगरेट, बीड़ी, आदि लाल मिर्च,

---

१. भोजनमहिंत विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम्।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशन-शाकोत्कटं वर्ज्यम्। ह.यो.प्र. १६२

२. हठयोग प्रदीपिका १६४।

३. गीता ६/१७।

४. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः- ६/१६

खटाई, तेल गरिष्ठ बादी, कोष्ठबद्धता करने वाले और कफवर्द्धक तथा तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन तथा दही, छाछ, मठ्ठे का सेवन वर्जित है।

व्रतोपवासादि :- योगमार्ग में चान्द्रायणदि व्रत तथा लम्बे उपवास वर्जित हैं। सप्ताह में एक दिन का उपवास प्रशस्त माना गया है, जिससे सप्ताह में संचित हुए शारीरिक तथा मानसिक विकार निवृत्त होते रहें।

सर्वथा निराहार रहना भी योगमार्ग में बाधा उत्पन्न कर सकता है क्योंकि उस स्थिति में प्राणों के निरोध के साथ भजन करने की अवस्था में मस्तिष्क में खुश्की पहुंचने और कई दिनों तक भजन कार्य में विघ्न पड़ने की सम्भावना रहती है। यदि शरीर की स्थूलता अथवा विकारों के कारण किसी को लम्बे व्रत करने ही पड़ें तो किसी अनुभवी की देखरेख में ही करना चाहिये क्योंकि लम्बे उपवास के बाद आँतों में पाचन शक्ति कम हो जाती है और भूख बढ़ जाती है। थोड़ी सी भूल से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

वाणी का तप :- योग सूत्रकार ने 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि' क्रियाओं में जिस तप का सन्निवेश किया है उसमें व्रत, भोजन संयम आदि के अतिरिक्त वाणी संयम भी आता है। यही वाणी का तप है जिसका तात्पर्य है केवल सत्य, प्रिय, आवश्यकतानुसार दूसरों का यथायोग्य सम्मान करते हुए सप्ताह में एक दिन मौन व्रत रखना प्रशस्त है किन्तु वाणी को संयम में रखने का यत्न किये बिना केवल देखा देखी मौन रखना मिथ्याचार है।

मन का तप :- मन का तप मन को संयम में रखना है अर्थात् हिंसात्मक क्लिष्ट भावनाओं तथा अपवित्र विचारों को मन से हटाते हुए अहिंसात्मक अक्लिष्ट भावनाओं और शुद्ध विचारों को मन में धारण करना चाहिये है। इस प्रकार क्लिष्ट विचारों पर विजय प्राप्त करने के

---

१. श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्ष भिर्युक्तै : सात्त्विकं परिचक्षते।। गीता १७/१७

पश्चात् सब प्रकार के विचार भविष्य के संकल्प विकल्प और भूतकाल की स्मृति से मन को शून्य करने का अभ्यास करना चाहिये।

फल के प्रति निस्पृह निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस तीन प्रकार के [शारीरिक वान्चिक मानसिक] तप को सात्त्विक कहते हैं।

यम :-

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र मे योग के अष्टाङ्गों का विधान किया है जो इस प्रकार है :- यम, नियम आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि[१]। यम के अन्तर्गत हैं- अ़हिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह।[२] नियमों में-शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।[३]

सिद्धसम्प्रदाय में इन यम और नियमों का पृथक् से उल्लेख नहीं किया गया है मात्र षडंगों का विधान है इसका कारण यह नहीं कि सिद्धमत में यम नियम का महत्व स्वीकृत नहीं है अपितु उनके मत में इनको सामान्यतः आवश्यक मान कर पृथक् से उल्लिखित नहीं किया गया है। इन सबका पालन साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सभी साधकों के लिये आवश्यक हैं इनका पालन उनके लिये नैतिक कर्तव्य तो है ही- मानसिक शुचिता के लिये भी अनिवार्य है जिसके अभाव में वह साधना पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता और सांसारिक दुराचरण में ही फंसा रहेगा। इनमें से भी ब्रह्मचर्य पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है। एक तो अन्य यमों की तरह ब्रह्मचर्य के पालन का विधान दूसरे सिद्ध बनने अथवा सिद्धदेह प्राप्त करने की प्रक्रिया में ब्रह्मचर्य पालन की अनिवार्यता। सिद्धमत में जीवन और साधना का लक्ष्य माना गया है- परंमपद की प्राप्ति अथवा

---

१. योगसूत्र २/२९।

२. वही- २/३०।

३. वही- २/३१।

पिण्डपद और परमपद में समरसीकरण। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ऊर्ध्वरेता बनना आवश्यक होता है स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है इस कारण इस विषय पर पृथक् से चर्चा आवश्यक एवं समीचीन है-

ब्रह्मचर्य :

इस शब्द से अर्थ द्योतित होता है- ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार की साधना। ब्रह्मज्ञान प्राप्ति हेतु आचरण करने वाला ही ब्रह्मचारी कहलाता है।[१]

इसके लिये वीर्यरक्षण आवश्यक माना गया है। सिद्धमत में तो स्पष्टतः माना गया है-

मरणं बिन्दुपातेन। जीवनं बिन्दुधारणम्।।[२]

बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु का धारण अथवा स्थिरता ही जीवन है। शिवसंहिता में आगे महादेव कहते हैं- 'अहं बिन्दुः शिवो बिन्दुः' मैं बिन्दु हूँ और हे पार्वति! मैं बिन्दुजय से ही शिवपद को प्राप्त हुआ हूँ। इस बिन्दु के धारण से ही तो 'ऊँ' का ऊँकार ईशत्व को प्राप्त हो गया है। ऊँ में से यदि ऊपर का बिन्दु हटा दिया जाये तो वह ऊँ कहाँ बचेगा? वह बिन्दु हटते ही ईशत्व से च्युत हो जाता है। योग का जन्म शिव से माना जाता है। जब योग के प्रदाता ईश्वर के प्रथम नाम ऊँ के ओमत्व का कारण भी बिन्दु धारण ही है तो फिर साधारण ब्रह्मचर्यहीन पुरुष योगसिद्धि अथवा शिवत्व को कैसे प्राप्त कर सकता है।

योग को साध्य और साधन दोनों रूपों में लेकर चला जाता है इसे अपना कर साधन ईश्वरीय ज्योति में लय हो सकता है। योग को यदि साध्य बनाना है तो ब्रह्मचर्य उसमें प्रधान साधना है। ब्रह्मचर्य के बिना योग की सफलता का अंकुर उसी तरह नहीं उग सकता है जैसे जल

---

१. ब्रह्मज्ञानं तपो वा अवश्यमाचरति अर्जयति। स्कन्ध पुराण

२. शिवसंहिता।

के बिना बीज। ब्रह्मचर्य के बिना योग वैसा ही है जैसे प्रकाश के बिना सूर्य और प्राण के बिना प्राणी। ब्रह्मचर्य की निष्ठा के बिना योग को छूना अपनी मौत को आप बुलाना है। अतः योग के जिज्ञासु का ब्रह्मचारी होना उतना ही आवश्यक है, जितना कि जीवन के इच्छुक को प्राणी [प्राणवान्] होना आवश्यक है, ब्रह्मचर्य व्रत से युक्त साधक के प्राण स्वभाव से ही स्थिर रहा करते हैं। यही बात योगशास्त्र में भी कही गयी है कि 'स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः' वीर्य के स्थिर हो जाने से ही प्राण भी स्थिर हो जाया करते हैं। इसके बाद कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है।

'सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिद्धयति भूतले' शिवसंहिता का यह कथन बिन्दु सिद्धि से सर्वसम्भव की बात को स्वीकार करता है पातञ्जल योग दर्शन में भी कहा गया है- 'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।' ब्रह्मचर्य की निष्टा से वीर्य 'बिन्दु' की स्थिरता, ऊर्ध्वगति का लाभ प्राप्त होता है। हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है-

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत् तावत् कालभयं कुतः?

जब तक साधक बिन्दु को ऊर्ध्वगामी रखता है तब तक उसको काल-मृत्यु प्राणक्षय का भय नहीं है। अथर्ववेद में भी कहा है कि- 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत' अर्थात् ब्रह्मचर्य रूप तप से देवों ने मृत्यु को मार डाला। दूसरी ओर ब्रह्मचर्य के पालन बिना योग का साधन करना अपने को रोग और मृत्यु के मुख में भेजना है अर्थात् ब्रह्मचर्य से हीन साधक योगमार्ग में सफलता नहीं पा सकता है। ब्रह्मचर्य ही योग में सफलता की कुंजी है। इतना ही नहीं ब्रंह्मचर्य ही विशवमात्र की सफलताओं का बीज है वह सफलता चाहे भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक।

वस्तुतः ब्रह्मचर्य का अर्थ आजन्म क्वारा रहना या जटाजूट आदि भेष बनाकर फिरना मात्र नहीं होता। स्थूलार्थ में ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्यनिरोध या काम दमन से ही है परन्तु इतना समझने से भी ब्रह्मचर्य का अर्थ पूरा नहीं होता। वस्तुतः वीर्य को रोकना, वेद ज्ञान को पाना, सत् चित् आनन्द ब्रह्म में समाना ब्रह्मचर्य हैं। वीर्य एक दिव्य तेज का नाम है।

'वीर्यं वै भर्गः' वीर्य ही तेज, आभा, प्रकाश है। इस वीर्यरूप ब्रह्म के दीपन से ही ब्रह्म वेद के तत्त्वज्ञान का दर्शन और वेदतत्त्व के ब्रह्म दीपक से सत् चित् आनन्द ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ करता है। यह ब्रह्ममंत्रसंयम ही ब्रह्मचर्य का पूरा तत्त्वार्थ है। इस ब्रह्म त्रिवेणी का स्नाता पुरुष ही योग का सच्चा अधिकारी होता हैं।

हमारे शास्त्रों में वीर्य के बीजत्व, वीरत्व, ओजस्, बल, तेज, शुक्र, रेत, रेतस् कान्ति, बिन्दु, भर्गादि नाम कहे गये हैं और उसे सृष्टि का उत्पादक, पालक, संहारक कहा है किन्तु हठयोग के ग्रंथो में वीर्य को ब्रह्म बिन्दु, ब्रह्म बीज तक कहा है। शिव कहते हें 'अहं बिन्दुः रजः शक्तिः' अर्थात् मैं [शिव] बिन्दु हूँ और शक्ति रज है। साधक के नाभिस्थान में रज और मस्तक के मध्य केन्द्र में वीर्य बिन्दु रहा करता है। रज का सिन्दुर वर्ण और वीर्य का श्वेत वर्ण है। रज रूप पार्वति को नाभि से उठाकर मस्तक में मिला देना ही योग सिद्धि का सफल रहस्य है। ऐसा कर पाने वाले ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता कहलाते हैं। ब्रह्मचर्य का ब्रह्मशब्द भी वीर्य और ब्रह्म के अभेद्य सम्बन्ध को बताता है। इस ब्रह्मचारी का अहं बिन्दु अपने स्वभाव सिद्ध स्वरूप ब्रह्म में ही स्थिर रहा करता है अर्थात् उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि हमारे वीर्य तन्तुओं में संसार से सम्बन्ध रखने वाला कोई वीर्य रूप पदार्थ है या नहीं। उनका ब्रह्म बिन्दु सब तरह के कम्पनों से रहित सदा स्थिर रहा करता है। ये ब्रह्मचारी प्रथम कोटि के होते हैं। ब्रह्मचर्य साधकों की एक और श्रेणी है जिनके ब्रह्मबिन्दु में जो सृजन कम्पन उठा करते हैं, उन्हें वे ईश्वर का सृष्टि सृजन आदेश समझकर सन्तानोत्पत्ति में बदल देते हैं। वे ब्रह्मं की उस ब्रह्मबिन्दु में होने वाली 'एकोऽहं बहुस्याम्' की सांकेतिक सूक्ष्मान्तर दिव्यवाणी को सुना करते हैं जो उन्हें कार्य हेतु प्रेरित करती है। ईश्वरीय आज्ञा का पालन करते हुए विषयासक्ति से रहित ऐसा गृहस्थ भी ब्रह्मचारी ही माना जाता है। ऐसे साधक ईश्वरीय संकेत को पाकर अनासक्त भाव और निष्काम बुद्धि से सावधान और ऋतुकाल के रहस्य

को समझते हुए शास्त्रानुकूल सृजनकार्य करते हैं।- 'प्रजनश्चास्ति कन्दर्पः' और 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ।'

उपर्युक्त दोनों ब्रह्मोपासक ब्रह्मचारी हैं ब्रह्मस्थित योगी और ब्रह्मरूप। योग की सिद्धियाँ उनके लिये सहज होती हैं। सिद्ध सम्प्रदाय की साधना में ब्रह्मचर्य के महत्व को बहुत बल देते हुए स्वीकार किया गया है साथ ही ब्रह्मचर्य साधना हेतु कुछ क्रियाओं और मुद्राओं की चर्चा भी पाई जाती है यथा वज्रोली, सहजोली अमरोली आदि मुद्राओं के प्रकरण में वज्रोजी की चर्चा आगे की जायेगी, अन्य मुद्रायें भी उस से मिलती जुलती होती है। इन्हें कुछ ही सिद्धों ने स्वीकार किया है। हठयोग के सभी ग्रंथो में उनका उल्लेख नहीं पाया जाता है किन्तु हठयोग प्रदीपिका में उन पर टिप्पणी हुयी है।

नियम :-

योगसाधक के लिये नियमों का विधान सर्वमान्य है ये हैं- शौच, संतोष, तपस् स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान।

[१] **शौच :-** पवित्रता का नाम शौच है। वह दो प्रकार का है बाह्य शौच और आभ्यन्तर शौच। बाह्य शौच स्थूल शरीर को मृत्तिका जल आदि से क्षालन करने से होता है। आभ्यन्तर शौच में सत्त्व स्वभाव के साथ चित्त के काम क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि मलों को मैत्री करुणा आदि उपायों से दूर करना-चित्त को निर्मल करना, आते है।

[२] **सन्तोष :-** जीवन से सम्यक् तुष्ट। जीवन निर्वाहोपयुक्त वस्तुओं के अतिरिक्त किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा न रखना सन्तोष कहलाता है इसके साथ ही मृत्यु के पार की स्थितियों को जानने के लिये असन्तोष होता है, कुछ और जानने की तलाश होती ही है।

[३] **तपस् :-** द्वन्द्वों को द्वेषरहित होकर सहन करना तपस् है शीत-उष्ण भूख प्यास आदि द्वन्द्व कहलाते हैं। इन्हें सहन करने के लिये शास्त्रों में व्रतों का विधान है यथा चान्द्रायण, सान्तपन आदि। योगी के

लिये कठोर व्रत विहित नहीं माने गये हैं। प्रारम्भिक साधना में स्थित होने पर ही द्वन्द्व सहिष्णुता स्वतः बढ़ने लगती है।

ईश्वर को न जान पाने का सन्ताप ही वस्तुतः 'तप' है।

[४] **स्वाध्याय :-** मोक्षप्रद शास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणवादि मन्त्रों का जप करना स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है जो साधना में बहुत सहायक होता है।

[५] **ईश्वर प्रणिधान :-** सम्पूर्ण कर्मों को गुरु एवं ईश्वर को अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है। यह अभीप्सित मनोरथ सिद्धि की अपूर्व शक्ति रखता है और साधना मार्ग के कण्टकों को छिन्न-भिन्न करता है। परमात्मा में समग्र कर्मो को अर्पण करने वाला साधक ईश्वर की कृपा से सोते बैठते चलते सदा योगयुक्त रहता है। उसके हिंसा आदि वितर्कजाल बिना ही प्रतिपक्ष भावना के परिक्षीण हो जाते हैं, वासना आदि नष्ट होते हैं, साधना का पथ प्रशस्त होता है। ईश्वर प्रणिधान से समाधिसिद्धि का भी उल्लेख है।[१] ईश्वर को ज़ानने के लिये प्रकृष्ट संकल्प ही ईश्वर प्रणिधान है। कठोर संकल्प ही प्रणिधान कहलाता है। जब ईश्वर को जानने के लिये ही सारे कार्य प्रेरित होते हैं-इसके फलस्वरूप चित्त में एकाग्रता आती है। यही साधक का महान् प्रयास है जिससे ईश्वर की प्राप्ति सम्भव हो।

---

१. समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। पा. यो. २/४५

चतुर्थ-अध्याय

षडंग योग- बाह्य एवं अन्तः साधन

सिद्ध सम्प्रदाय में साधना क्रम में योग के छः अंगों को स्वीकार किया गया है साथ ही मुद्रा बंध, वेध आदि का विधान किया गया है। इस प्रकरण में इन पर चर्चा की जायेगी।

आसन :-

किसी भी प्रकार की सिद्धि के लिये चित्तैकाग्रय की आवश्यकता होती है और चितैकाग्रय होने के लिये आसन सिद्धि परमावश्यक है। महामुनि पतंजलि ने आसन का लक्षण 'स्थिरसुखमासनम्' कह कर किया है अर्थात् जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है जिस रीति में बिना हिले डुले और सुख के साथ बिना किसी कष्ट के दीर्घकाल तक स्थिर रह सकें, उसी को आसन माना गया है। हठयोग में नाना प्रकार के आसन हैं। जो शरीर को स्वस्थ हल्का और योग साधन के योग्य बनाने में सहायक होते हैं, पर यहाँ उन आसनों से अभिप्राय है जिनमें सुखपूर्वक निश्चलता के साथ अधिक से अधिक समय तक ध्यान लगाकर बैठा जा सके।

महर्षि पतंजलि के अष्टाङ्गयोग की अपेक्षा सिद्धमत के सिद्धान्त में यम नियम की सामान्य मान्यता के अतिरिक्त षडंगयोग का ही प्रतिपादन किया गया है आसन उनमें से प्रथम अंग है- गोरक्षपद्धति में कहा गया है-

आसनं प्राण संरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यान समाधिरेतानि योगाङ्.गानि वदन्ति षट्॥

गोरक्ष पद्धति १/६

जीवों की योनियाँ चौरासी लाख बतायी गयी हैं। योग के आदि गुरु महेश्वर ने आसनों की संख्या जीव की योनियों के अनुपात क्रम से चौरासी लाख बतायी हैं।

> आसनानि च तावन्तो यावन्तो जीवजन्तवः।
> एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः। गो.प. १/७
> चतुररीति लक्षाणामेकैकं समुदाहृतम्।
> ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतकृतम् ॥ गो.प. १/८

इन चौरासी लाख आसनों मे से केवल दो प्रमुख कहे गये हैं- ध्यान हेतु लम्बे समय तक उनमें सुखपूर्वक बैठा जा सकता है-यें हैं-सिद्धासन और पद्मासन।

सिद्धासन :-

उसका वर्णन कुछ इस प्रकार किया गया है कि बांये पैर की एडी को गुदा और उपस्थेन्द्रिय के बीच में इस प्रकार दृढ़ता से लगावें कि पैर का तला दायें पैर की जंघा को स्पर्श करें। इसी प्रकार दाहिने पैर की एडी को उपस्थेन्द्रिय की जड़ के ऊपर के भाग में इस प्रकार दृढ़ता से लगावें कि उसका तला वायें पैर की जंघा को स्पर्श करे। इसके पश्चात् बायें पैर के अंगूठे और तर्जनी को दायी जांघ और पिण्डली के बीच में लें। इसी प्रकार दायें पैर के अंगूठे और तर्जनी को बायी जंघा और पिण्डली के बीच में ले लें। सारे शरीर का भार एड़ी और सीवनी [गुदा और उपस्थ के मध्य] के बीच की नस पर तुला रहना चाहिये गोरक्षपद्धति में इसका वर्णन कुछ भिन्न रूप में मिलता है।

> योनिस्थानकाध्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
> न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
> स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरम्
> हयेन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते। १/१०

अर्थात् पैरों को एक दूसरे पर रखने के अतिरिक्त ठोडी को वक्ष पर स्थिर करने के साथ सभी इन्द्रियों को वश में रखें, भौहों के मध्य में दृष्टि स्थिर कर बिना हिले डुले स्थिर रहें। यही मोक्ष के दरवाजे को खोलने वाला सिद्धासन है।

शिवसंहिता में इस आसन का वर्णन इस प्रकार है-

योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत् योगवित्सदा
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः॥३/१०१
विशेषोऽवक्र कायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः
एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धि दायकम्॥३/१०२

अर्थात् योगविद् साधक को चाहिये कि यह अपने पैर के मूलभाग से यत्नपूर्वक योनि को दबाते हुए दूसरे पैर के मूल को मेढ्र के ऊपर रखे, फिर वह संयतेन्द्रिय ऊपर की ओर देखकर भ्रूमध्य में ध्यान लगाता हुआ निश्चल हो जाये। इसे विशेषकर एकान्त में, शरीर को सीधा रखते हुये और सब प्रकार के उद्वेगों से रहित होकर करना चाहिये। यह सिद्धासन सिद्धों को सिद्धि देने वाला है, ऐसा जानना चाहिये।

कुछ लोग सिद्धासन को वज्रासन और कुछ मुक्तासन अथवा गुप्तासन भी कहते हैं।

सिद्धासन के विषय में हठयोग प्रदीपिकाकार लिखते हैं कि ८४ आसनों में प्रधान सिद्धासन का ही सदा अभ्यास करना चाहिये क्योंकि यह ७२ हजार नाड़ियों का शोधन करने वाला है।

चतुरशीतिपीठेषु, सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्तति सहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्॥ ११/४१

सदैव ध्यान करने वाला और सीमित करने वाला व्यक्ति बारह वर्ष तक सदा सिद्धासन का अभ्यास करने वाला योगी सफल होता है इतना ही नहीं सिद्धासन के सिद्ध हो जाने पर अन्य अनेकों आसनों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। इसी की सिद्धि से बिना श्रम के ही उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है और बंध त्रय [मूलबंध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध] भी स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। इसीलिये सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं होता ऐसा कहा जाता है।

नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥ हठ.१/४५

पद्मासन :

दाहिने पैर को बांये रान की मूल में और बायें पैर को दाहिने रान की मूल में जमाकर रखने से पद्मासन बनता है, गोरक्षनाथ जी ने इसके विषय में लिखा है-

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षिणोरूपरि पश्चिमेनविधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये
देतद् व्याधि विकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते॥

गो.प. १/११ हठयोग १/४६

अर्थात् बाम उरु, जानुमूल में दाहिना पैर स्थापित करें और उसी तरह दायें जानुमूल में बायाँ पैर स्थिर करें और दानों हाथों को पीछे से ले जाकर दायें हाथ से वायें पैर के अंगूठे और बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ कर चिबुक को हृदय से लगाकर नासा के अग्रभाग को दोनों नेत्रों से देखें, यही व्याधि और शारीरिक, मानसिक विकारों को नष्ट करने वाला पद्मासन कहा गया है। गोरक्षनाथ जी द्वारा बताये गये इस आसन को बद्ध पद्मासन नाम दिया गया है, इसे पद्मासन सिद्ध होने के पश्चात् किया जा सकता है इसमें दोनों जंघाओं को दोनों पैरों से दबाकर रखना होता है और पैरों के अंगूठे भूमितल से लगे रहते हैं। इस आसन से शरीर नीरोग रहता है। इसी विषय में हठयोगप्रदीपिका और स्पष्टता से निर्देश करती है-

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरूसंस्थौ प्रयत्नतः।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततोदृशौ॥ १/४७

बद्ध पद्मासन की भाँति जालन्धरबन्ध खेचरी मुद्रा और नासाग्र पर दृष्टि के साथ प्राणायाम करके अपान वायु को ऊपर उठाने की बात कही गई है-

नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूल तु जिह्वया।
उत्तंम्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्ध पवनं शनैः॥ ४८

हठयोग प्रदीपिकाकार का तो अभिमत है कि पद्मासन लगाने के

साथ ही योगी दोनों हाथो को गोद में रखकर ढोड़ी को वक्ष से लगाकर परम ब्रह्म का ध्यान करता हुआ मूलबन्ध लगाकर अपान वायु को खींचता हुआ प्राणवायु से मिलाता है तो वह शक्ति कुण्डलिनी को जागृत् करता हुआ सर्वोच्च बुद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार पद्मासन पर बैठा हुआ योगी श्वास प्रश्वास को संयत करता हुआ निश्चय ही सारे बंधनों से मुक्त हो जाता है।

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम्।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः।। १५१

जैसा प्रारंभ में कहा गया आसन अंसख्य हैं। किन्तु यहाँ केवल साधना के क्रम में अत्युपयोगी आसनों की ही अपेक्षा है। यद्यपि साधना में कुछ साधक स्वस्तिकासन, सुखासन, वीरासन वज्रासन और सरल आसन का भी उपयोग करते हैं किन्तु सर्वाधिक लोकप्रिय एवं उपयोग में आने वाले उक्त दो आसन अत्यन्त महत्वपूर्ण होने से उन्हीं की चर्चा की गयी है। शेष आसन स्वास्थ्य लाभ हेतु उपयोग में आने से साधनमार्ग में उनकी चर्चा को उपयोगी नहीं समझकर छोड़ दिया गया है।

प्राणायाम :

प्राणवायु को परब्रह्म में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) ही वस्तुतः प्राणायाम होता है। प्राण का अर्थ परब्रह्म भी है।

महामुनि पतञ्जलि का कथन है कि आसन सिद्ध होने पर योगी को गर्मी सर्दी भूख प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते हैं[१]। उसके बाद प्राणायाम का क्रम प्राप्त होता है। महायोगी गोरक्षनाथ का कथन है-

बद्धपद्मासनो योग नमस्कृत्य गुरुं शिवम्।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्।।

ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायु प्राणे नियोजयेत्।।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

गोरक्षपद्धति।२/७-८

---

१. ततो द्वन्दानभिघातः। यो.सू. २/४८।

उनके इस कथन से सिद्ध होता है कि प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण होता है और तब साधक सभी पापों से छुटकारा पा जाता है। इतना ही नहीं नौ द्वारों को रोकर वायु का पान करने और उसे दृढ़ता से भीतर धारण करने से अग्नि और अपान के योग से कुण्डलिनी को ऊपर स्थिर कर वायु से युक्त करने वाला योगी आत्मा का ध्यान करता हुआ संसार में चिरायु प्राप्त करता है। उसके पाप उसी तरह भस्म हो जाते हैं जिस तरह काष्ठ रूपी ईन्धन को आग भस्म कर देती है। अतः प्राणायाम संसार से पार उतरने के लिये महासेतु है।

वस्तुतः आत्मा देह के साथ प्राणादि वायु के माध्यम से ही जुड़ा रहता है अतः इस डोर को दृढ़तापूर्वक संयत कर लेने से आत्मतत्व का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। आसनों की सिद्धि से सभी रोग नष्ट होते हैं और प्राणायाम के अभ्यास से सारे पापताप का शमन हो जाता है प्राणायाम सिद्धि से प्रत्याहार में प्रवेश होता है जिससे मानसिक विकारों का अन्त हो जाता है उसके बाद ही धारणा और ध्यान की स्थिति बनती है।

योगसूत्रकार पतञ्जलि का मत है कि आसन के स्थिर हो जाने पर श्वास प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है।[१] बाहर की वायु का नासिका द्वारा अन्दर प्रवेश करना श्वास कहलाता है। कोष्ठ स्थित वायु का नासिका द्वारा बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास प्रश्वास की गतियों का प्रवाह रेचक पूरक और कुम्भक द्वारा बाह्याभ्यन्तर दोनों स्थानों में रोकना प्राणायाम कहलाता है। रेचक प्राणायाम की बर्हिगति होने के कारण उसमें श्वास की स्वाभाविक गति का तो अभाव होता ही है पर कोष्ठ की वायु का बहिर्विरेचन करके बाहर ही धारण करने से प्रश्वास की स्वाभाविक गति का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार पूरक प्राणायाम में प्रश्वास की गति का अभाव होता ही है, पर बाह्य वायु को पान करके शरीर के अन्दर धारण करने से श्वास की स्वाभाविक गति

१. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।– यो.सू. २/४९

का भी अभाव हो जाता है और कुम्भक प्राणायाम में रेचन पूरण प्रयत्न के बिना केवल विधारक प्रयत्न से प्राणवायु को एकदम जहाँ के तहाँ रोक देने से श्वास प्रश्वास दोनों की गति का अभाव हो जाता है। यही श्वास प्रश्वास की गति का तोड़ देना या विच्छेद है। यह पूरक, रेचक, कुम्भक से भिन्न चतुर्थ स्थिति है। वायु के चञ्चल होने से चित्त में चञ्चलता रहती है और वायु के स्थिर हो जाने से चित्त में भी स्थिरता आने लगती है यही प्राणायाम का महत्व है। देह में वायु की स्थिति जीवन का प्रतीक है और वायु का निष्क्रमण ही मृत्यु कहलाता है। अत: वायु को (श्वास वायु) को संयत करना चाहिये[१] शरीर में दस वायु हैं- प्राण अपान, समान, उदान, व्यान, नाग कृकल देवदत्त, कूर्म और धनञ्जय। प्राण हृदय में नित्य निवास करता है अपान गुदा मण्डल में, समान नाभि देश में, उदान कण्ठ के मध्य में और व्यान पूरे शरीर में व्याप्त हैं। प्राणादि पाँच वायु प्रधान हैं। नागादि उपवायु है। नागवायु का कार्य उद्‌गार [डकार] उत्पन्न करना है। नेत्रोन्मीलन कूर्म वायु का कार्य है। कृकल वायु का कार्य है छींक उत्पन्न करना देवदत्त वायु का कार्य है जंभाई लेना और धनञ्जय का कार्य है पूरे शरीर में व्याप्त रहना। मृत शरीर का इसके द्वारा चार घड़ी तक परित्याग नहीं किया जाता है। जीवरूपी ये दस वायु शरीर की सभी नाड़ियों में भ्रमण कर प्राण का संचार करती हैं। गोरक्षपद्धति में कहा गया है कि जिस तरह हाथ से ताड़ित होकर गेंद स्वयं उछलता है, उसी तरह प्राण और अपान द्वारा निरन्तर अपकृष्ट जीव क्षणमात्र भी स्थित नहीं हो पाता। जीवात्मा प्राण और अपान के वश में होकर इडा और पिंगला नामक-क्रमश: बायें और दायें नासारन्ध्रों से ऊपर नीचे चढ़ता उतरता रहता है। चञ्चल होने के कारण वह दिखलाई भी नहीं पड़ता है[२] आत्मा की

---

१. यावद्वायु: स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्।। हठ २/३

२. आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथांच्छलति कन्दुक:।
प्राणापानसमाक्षिप्रस्तथा जीवो न तिष्ठति।। ३७ गो.प.
प्राणापान वशो जीवोऽधश्चोर्ध्वश्च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते।। गो.प. १/३८

उपमा पक्षी से दी गई है डोरी में बंधा बाज पक्षी डोरी ढीली करने पर जिस तरह ऊपर उड़ने लगता है और डोरी को खींचने पर वापस आ जाता है ठीक उसी तरह सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से वासना और अविद्या में आबद्ध जीवात्मा प्राण अपान वायु के द्वारा ऊपर नीचे खिंचता रहता है अपान प्राणको और प्राण अपान को अपनी अपनी ओर खींचते हैं, इस तरह नीचे ऊपर खींचते प्राण अपान दोनो को योगवेत्ता पुरुष संयोजित करते हैं। प्राण अपान का यह संयोग ही सूर्य चन्द्र का सामरस्य है[१]।

महामुनि पतञ्जलि ने योगसूत्र २/५० में प्राणायाम के तीन प्रकारों का वर्णन किया है। उनका कथन है कि यह प्राणायाम बाह्य वृत्ति आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति से तीन प्रकार का होता है। इसमें बाह्य वृत्ति [प्रश्वास] श्वास को बाहर निकालकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना रेचक प्राणायाम है।

आभ्यन्तर वृत्ति-श्वास अन्दर खींचकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव पूरक प्राणायाम है।

स्तम्भवृत्ति- श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को एकदम जहाँ का तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। जिस प्रकार तप्त लोहादि पर डाला हुआ जल एक साथ संकुचित होकर सूख जाता है इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाम में श्वास प्रश्वास दोनों की गति का एक साथ अभाव हो जाता है।

इन तीनों में प्रत्येक प्राणायाम तीन तीन प्रकार का होता है-

१. देश परिदृष्ट- देश से देखा हुआ अथवा नापा हुआ। जैसे [१] रेचक में नासिका तक प्राण का निकालना [२] पूरक में मूलाधार तक श्वास का ले जाना [३] कुम्भक में नाभिचक्र आदि में एकदम रोक देना।

---

१. गोरक्षपद्धति- १/२९-४०

२. बाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्तिर्देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। पा.यो.२/५०

२. **कालपरिदृष्ट**- समय से देखा हुआ। समय की विशेष मात्राओं में श्वास का निकालना, अंदर ले जाना और रोकना। यथा दो सैकेण्ड में रेचक एक सैकेण्ड में पूरक और चार सैकेण्ड तक कुम्भक।

३. **संख्या परिदृष्ट**- संख्या से उपलक्षित। जैसे इतनी संख्या में पहला, इतनी संख्या में दूसरा और इतनी संख्या में तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लम्बा और हल्का होता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे योगी का अभ्यास बढ़ता है उसके साथ ही रेचक, पूरक, कुम्भक, यह तीनों प्रकार का प्राणायाम देशकाल और संख्या के परिमाण से दीर्घ और सूक्ष्म होता चला जाता है। रेचक में श्वास खींचने में श्वास का स्पर्श चींटी जैसा प्रतीत होता है। यह स्पर्श अभ्यास के क्रम से नीचे की ओर नाभि तथा पादतल तक और ऊपर की ओर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। नाभिपर्यन्त पूरक स्थिर हो जाने पर उसको भी दीर्घसूक्ष्म समझना चाहिये। इस तरह केवल रेचक पूरक की परीक्षा की जाती है, कुम्भक में न बाहर कुछ हिलता है न अंदर स्पर्श होता है।

इसी प्रकार तीनों प्रकार का प्राणायाम अभ्यास द्वारा काल के परिमाण में भी बढ़ता जाता है। आरम्भ में जितने समय तक प्राणायाम होता है, धीरे-धीरे उसका समय बढ़ता जाता है। जब छत्तीस मात्राओं तक श्वास प्रश्वास की गति के अभाव में प्राणायाम होने लगे तब वह दीर्घ सूक्ष्म कहलाता है।

इसी प्रकार संख्या के परिमाण से प्राणायाम में वृद्धि होती है। कई स्वाभाविक श्वास प्रश्वास का एक एक श्वास बनता जाता है। जब बारह श्वासों का एक श्वास बनने लगे तब उसे दीर्घ सूक्ष्म जानना चाहिये इस स्वभाविक श्वास प्रश्वास की गति के वशीकरण से शरीर के भीतर प्राण की समस्त सूक्ष्म गतियों का वशीकार हो सकता है और नाना प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं इन दोनों गतियों को नियमपूर्वक

रोक देने के अभ्यास से आयु बढ़ती है, शरीर स्वस्थ रहता है-कुण्डलिनी जागृत् होती है और मन की चञ्चलता कम होने लगती है। 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोध:' इस निरोध में सहायक रहने के कारण उसे योग का चतुर्थ अंग मानकर उसका लक्षण नियमपूर्वक श्वास प्रश्वास की गति को रोकना किया गया है। तीन नियमित क्रियाओं से इस गति का निरोध किया जाता है। इसलिये प्राणायाम के तीन भेद पूरक आभ्यन्तर वृत्ति रेचक बाह्य वृत्ति और कुम्भक-स्तम्भ वृत्ति किये गये हैं।

पूरक के द्वारा देश काल और संख्या के परिमाण से उसकी गति का अभाव करके श्वास की गति को रोक देना पूरक सहित अथवा 'आभ्यन्तर' कुम्भक है। इसी प्रकार रेचक के साथ अभ्यास करने पर रेचक सहित कुम्भक अथवा वाह्य कुम्भक होता है। बिना पूरक रेचक किये ही श्वास प्रश्वास दोनों की गतियों को कुम्भक द्वारा जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है यह भी देश काल और संख्या के परिमाण से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। इसको केवल कुम्भक कहते हैं।

इन तीनों से भिन्न एक चतुर्थ विलक्षण क्रिया श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने की है। इसकी संज्ञा चतुर्थ प्राणायाम है। इसमें श्वास-प्रश्वास की गति को रोके बिना केवल रेचक पूरक किया जाता है। इसके निरंतर अभ्यास से श्वास प्रश्वास की गति देश, काल और संख्या के परिणाम से दीर्घ और सूक्ष्म होती हुई स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

वायु के भेदों की चर्चा पूर्व में की गई थी इसके मुख्य भेदों में प्राण का निवास स्थान हृदय, अपान का मूलाधार तथा समान का नाभि है। पूरक प्राणायाम में प्राण वायु नाभि से नीचे जाकर अपान के साथ मिलता है और रेचक में अपान समान [नाभि] के ऊपर जाकर प्राण से मिलता है। अत: योग में प्राण और अपान के संयोग को भी प्राणायाम कहा गया है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे
प्राणापानगतीं रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः। ४/२९

गोरक्ष संहिता और घेरण्ड संहिता में कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद बतलाये गये हैं-

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवलीचाष्टकुम्भकाः॥ गो.स. ९५

हठयोग प्रदीपिका[1] में प्राणायाम करने के कुछ तरीके बताये गये हैं। रीढ़ में स्थित सुषुम्ना मध्य नाडी है उसके बाई ओर है इडा और दाहिनी ओर पिंगला इन्हें क्रमशः चन्द्रनाडी और सूर्यनाडी भी कहा जाता है। बद्ध पद्मासन में बैठकर योगी चन्द्रनाडी [बाँए नथुने] से प्राण खीचें फिर यथाशक्ति अन्दर धारण [कुम्भक] करें फिर सूर्यनाडी [दाहिने नथुने] से रेचक कर दें। उसके बाद इसका क्रम उलटा हो जायेगा अर्थात् दाहिनी नाक से प्रश्वास छोड़ने के बाद फिर उसी से श्वास भरे यथाशक्ति कुम्भक के बाद बाईं ओर से प्रश्वास छोड़े। इस प्रकार सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी से अभ्यास करने पर तीन मास के बाद नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती है।

इस प्रकार कुम्भक का अभ्यास प्रातः मध्याह्न सायं और अर्धरात्रि में चार बार करना चाहिये। प्रत्येक बार कुम्भक की संख्या अस्सी होनी चाहिये। प्रारंभ में इस अभ्यास से पसीना आता है मध्यम अवस्था में कम्प होता है उत्तम प्राणायाम होने पर स्थिरता आने लगती है। पसीना आने पर उसे शरीर में ही मल लेना चाहिये।

जिस प्रकार सिंह, गज और व्याघ्र भी धीरे धीरे वश में हो जाते हैं उसी प्रकार धीरे धीरे अभ्यास से वायु भी संयमित होती है शीघ्रता अथवा बलात् अभ्यास से साधक को हानि भी हो सकती है।

प्राणायाम के उचित अभ्यास से सारे रोगों का क्षय होता है किन्तु साथ ही अनुचित अथवा अयुक्ताभ्यास से रोगों की उत्पत्ति भी हो जाती

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ७-१५।

है। जुकाम, श्वास, खाँसी अथवा सिर, कान, अथवा नेत्रों में दर्द आदि रोग पवन प्रकोप से होने वाले बताये गये हैं।

प्राणायाम के उचित अभ्यास से नाड़ी शोधन होता है तब शरीर में कृशता और कांति बढ़ती है। नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य होता है नाडी शोधन के उपाय स्वरूप नेति वस्ति आदि की चर्चा पहले की जा चुकी है। नाड़ी शोधन के बाद प्राणायाम के सतत अभ्यास से अनेक लाभ होते हैं उनमें प्रमुख है बिन्दु स्थैर्य। महायोगी गोरक्षनाथ जी का कथन है कि जब तक शरीर में प्राण चञ्चल हैं तब तक वीर्य भी स्थिर नहीं होता और प्राण के निश्चल होने पर वह भी निश्चल हो जाता है–

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।। गो.प. १/९०

प्राण और बिन्दु के निश्चल होने पर योगी साधन में स्थिरता रूपी सिद्धि प्राप्त करता है, इसलिये प्राणायाम का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। जब तक देह में वायु स्थिर है, चित्त नीरोग है और दृष्टि भ्रूमध्य में स्थित है तब तक मृत्यु का भय नहीं रहता है। मृत्यु के भय से ब्रह्मा, योगी और मुनिजन प्राणायाम करते रहते हैं। प्राणायाम का अभ्यास सभी को करना चाहिये प्राण और अपानरूप 'हंस' बाँये और दाँये नासारन्ध्र से छत्तीस अंगुल की दूरी तक बाहर निकलता है इसलिये वायु को प्राण कहा जाता है। योगी को प्राण वायु के संग्रह के अभ्यास में समर्थ होना चाहिये क्योंकि प्राणायाम से ही मल से पूरित प्राण वाहिनी नाडियों के चक्रसमूह का शोधन होता है। यद्यपि हंस आत्मा है तथापि आत्मा, हंस और प्राण अभिन्न हैं। शरीर को आत्मा छोड़ता है तो प्राण भी छोड़ देता है।

मुद्राएं :

योग के समस्त तन्त्रों का आधार कुण्डलिनी शक्ति को माना गया है। मूलाधार चक्र के नीचे गुदा उपस्थ के मध्य यह शक्तिरूपा

ढ़ाई लपेटे लेकर सर्पिणी की तरह सोई पड़ी रहती है इसको जगाना ही योगी का उद्दिष्ट होता है क्योंकि इसके जागरण से अनन्त शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। जागने पर यह सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ना प्रारम्भ करती है और आज्ञा चक्र में पहुँचकर शिव के साथ संयुक्त होती है इसी संयोग का साधन होने से उसके जागृत् करने वाले मार्ग की संज्ञा 'योग' होती है अतः उन्हीं सब उपायों की चर्चा सिद्ध सम्प्रदाय में की गई है जिनकी साधना से कुण्डली जागृत् हो सके। वैसे गुरु कृपा ही सब उपायों की सिद्धि का मूल है। गुरु के निर्देशन में ही सारी साधना की क्रिया चलती एवं सफल हो पाती है। अतः गुरु की महिमा का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है इसकी चर्चा पृथक् से करेगें। यहाँ प्राणायाम के साथ ही मुद्रा और बन्धों की चर्चा अपेक्षित है। कहा गया है कि गुरु कृपा से कुण्डली के जागृत् होने पर सारे चक्र और ग्रंथियों का भेदन हो जाता है। सुषुम्ना तब प्राणवायु के आवागमन के लिये राजपथ के समान बन जाती है तब चित्त भी सारे बन्धनों से मुक्त होता है और मृत्यु निकट नहीं आती है। अतः इस कुण्डली शक्ति को जगाने के ही सारे प्रयत्न करने चाहिये उसके लिये मुद्राओं एवं बन्धों का अभ्यास करना चाहिये। इनकी संख्या दस है- महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, उडड्यान, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्ति-चालन।

महामुद्रा :

मूलबन्ध के साथ बायीं एड़ी से सीवन को कसकर दबाते हुए दाहिनें पैर को फैलाकर शनैः शनैः पूरक करके मूल और जालन्धर बन्ध लगाते हुए दायें पैर के घुटने पर मस्तक को जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करें।

कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में धीरे धीरे फुलावें और ऐसी भावना करें कि प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत् करके सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः शनैः रेचक करते

हुए उठाकर यथास्थिति में बैठ जायें। यह बामांग हुई। इसी प्रकार दक्षिणांग में इस मुद्रा को करना चाहिये। प्राणायाम की संख्या एवं समय बढ़ाते रहें।

हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि कंठ में जालन्धर बन्ध लगाकर पूरक से भरी वायु को अन्दर धारण करने से शक्ति कुण्डली सहसा सीधी हो जाती है जिस प्रकार दण्ड की चोट खाकर सर्प सीधा दण्ड के समान हो जाता है। तब वह इडा और पिंगला दोनो नाडियों को छोड़कर सुषुम्ना नामक मध्यनाड़ी में प्रवेश करती है। तब धीरे धीरे रेचक करना चाहिये, वेग से नहीं। इस महामुद्रा के करने से महान् क्लेश, दोष तथा मृत्यु आदि नष्ट हो जाते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से सारे रसों का हानिकर प्रभाव नष्ट हो जाता है यहाँ तक कि विष का प्रभाव भी कम हो जाता है। क्षयरोग, कुष्ठरोग, मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदर रोग तथा प्रमेह आदि रोग भी नष्ट हो जाते हैं, अतः महामुद्रा का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। इस मुद्रा को मनुष्यों के लिये महासिद्धि प्रदान करने वाली कहा गया है। इसे जिस किसी को नहीं बता देना चाहिये अपितु प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिये।

खेचरी मुद्रा :

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ गो.प. १/६२

जीभ को उलट कर ऊपर की ओर तालु कुहर में प्रविष्ट करने से वह भ्रूमध्य से स्पर्श करने लगती है। अन्दर जहाँ भ्रूमध्य के पास दोनों ओर नासिका मूल के गड्ढे होते हैं तीन रास्ते बनते हैं-उसी स्थान पर स्थित हो जाती है इसे खेचरी मुद्रा अथवा व्योमचक्र भी कहते हैं। इस मुद्रा का बड़ा माहात्म्य वर्णित है। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी विष, व्याधि, मृत्यु और जरा आदि से विमुक्त हो जाता है। उसे रोग मरण, तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास, मूर्च्छा, आदि नहीं होते हैं। सिद्ध जन इसे खेचरी इसलिये कहते हैं क्योंकि उसके अभ्यास के फलस्वरूप साधक

का चित्त और जिह्वा दोनों आकाश [शून्य] में विचरण करते हैं। खेचरी में जीभ को ऊपर ले जाने से विवर बन्द हो जाता है जिससे कि वीर्य क्षरण नहीं करता है। जिह्वा को ऊपर स्थिर करके जो साधक सोमपान करता है वह निःसन्देह पन्द्रह दिनों में मृत्यु को जीत लेता है[१]।

हठयोग प्रदीपिका का कथन है-

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥ ३/४६

योनिमुद्रा :

सिद्धासन से बैठ सम सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनो कानों को दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रो को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बन्द करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठकाओं को दोनो आठों के पास रखकर काकीमुद्रा द्वारा अर्थात् ज़िह्वा को कौए की चोंच के सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायु को खींचकर अधोगत अपान वायु के साथ मिलावें। तत्पश्चात् ओ३म् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करें कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत् करके षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्त्रदल कमल में जा रही है। इससे अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है।

योगमुद्रा :

मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठकर प्रथम दोनों नासिका पुटों से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगावें तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ की और दायों हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़ें, शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचन करें।

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३/३७-४५।

२. ब्रजत्यूर्ध्वं सिद्धिपूर्वं राजयोगपदप्रदः।-दत्तपुराण १/४१

३. दत्तपुराण १/४२-४४

यह मुद्रा पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत् करने में सहायक होती हैं।

शाम्भवी मुद्रा :

मूल और उड्डीयानबन्ध के साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है। मन को आज्ञा चक्र में स्थिर करके दृष्टि को समस्थल में अधिक से अधिक दो हाथ और कम से कम एक वालिस्त के अंतर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में स्थिर रखकर स्थित करना अथवा चलते फिरते, उठते बैठते, सोते जागते, काम करते, अपने में अपना लक्ष्य रख के अलक्ष्य करना इसके लिये किसी बाह्य उपकरण की सहायता की अपेक्षा नहीं। खाली बर्हिलक्ष्य का अर्न्तलक्ष्य होना ही काफ़ी है। परा का स्फुरण पश्यन्ती बनकर मध्यमा, बैखरी के अर्थ एवं शब्दों की एकता करता है या नहीं– इसका निरीक्षण करना ही अन्तर्लक्ष्य है। इसी को शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। किन्हीं किन्हीं के मत में यह मुद्रा शिवजी ने साधी थी इसलिये इसका नाम शाम्भवी पड़ा।

विपरीत करणी मुद्रा :

हठयोग प्रदीपिकार ने इस मुद्रा को गुरु मुख से जानने पर विशेष बल दिया है क्योंकि यह एक गुप्त और रहस्यमयी साधना है। नीचे दिये हठयोग प्रदीपिका के श्लोक का अनुवाद करते हुए कतिपय ग्रन्थकारों ने कुछ इस प्रकार अर्थ लगाया है कि पहले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उस पर अपने मस्तक को रक्खे, फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगाकर शरीर को उल्टा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दें।

अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।
क्षणान्न किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।। ३/३३/८०हठ.

इस वर्णन से यह मुद्रा शीर्षासन ही हो जाती है पर ऐसा है नहीं।

इसे करने से भूख बहुत बढ़ती है। अतः साधक को पर्याप्त आहार मिलना चाहिये।

इसके अभ्यास के छः मास के बाद झुर्रियाँ और सफेद बाल नहीं दिखाई देते हैं। जो दो घन्टे नित्य अभ्यास करता है, वह मृत्यु को जीत लेता है।

मूलबन्ध :– हठयोग प्रदीपिका में इसका वर्णन है-

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।।

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः।। ३/६०-६१

अर्थात् मूलबन्ध योनि और गुदा के आकुञ्चन पर आधारित होता है ऐसा करने से स्वाभाविक रूप से अधोगति वाली अपान वायु ऊपर की ओर आकृष्ट की जाती है। मूलाधार पर बलात् आकुञ्चन के कारण इसे मूलबन्ध कहते हैं। एडी के द्वारा गुदा को सम्पीड़ित करके भी बलात् वायु को ऊपर की ओर खींचा जाता है जिसमें अपान की गति उलट कर ऊपर की ओर खींचा जाता है जिसमें अपान की गति उलट कर ऊपर की ओर हो जाती है। इस प्रकार अपान प्राण से नाद और बिन्दु एकता को प्राप्त करते हैं और योग में सफलता मिलती है अपान और प्राण का ऐक्य करने तथा मूत्र और पुरीष का क्षय [कमी] करने वाला होने से मूलबन्ध के सतत अभ्यास से वृद्ध व्यक्ति भी युवा हो जाता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि मण्डल में प्रवेश कर लेने पर वायु के द्वारा आहत हुयी अग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है। तब यह वह्नि और अपान प्राण से मिलते हैं। जो स्वयं उष्णस्वरूप होते हैं इससे देह में जलन अनुभूत होती है। तब सोती हुई कुण्डलिनी संतृप्त होकर जाग जाती और दण्ड से पीटी गई श्वास छोड़ती सर्पिणी के समान सीधी होकर ब्रह्मनाडी या सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है। अतः योगी को नित्य मूलबन्ध कर अभ्यास करना चाहिये। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।

इससे अपानवायु का ऊर्ध्वगमन प्राण वायु के साथ एक होने पर कुण्डली के ऊपर चढ़ने के अतिरिक्त कोष्ठबद्धता दूर होती है। जठराग्नि

को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। सिद्ध सम्प्रदाय में साधकों को सलाह दी जाती है कि साधना के अतिरिक्त भी हर समय मूलबन्ध को लगाये रखने का अभ्यास करना चाहिये।

उड्डीयान बन्ध :

दोनों जानुओं को जोड़कर पैरों के तलुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड से ऐसे लगा दें जिससे कि पेट के स्थान पर गड्डा सा दिखने लगे जितना पेट को अन्दर की ओर अधिक खींचा जायेगा, उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है, इसलिये इस बंध का नाम उड्डीयन रखा गया है[१]। पैरों के तलुओं को बिना भिड़ाये भी इस बन्ध को किया जाता है। हठयोगप्रदीपिकाकार ने इस विषय में लिखा है-

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।। ३/५७

इस बन्ध के अनेकानेक लाभ हैं प्रमुखतः प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़ों का शक्तिशाली होना। इतना ही नहीं छः मास के अभ्यास से मृत्यु को जीता जा सकता है अतः सारे बन्धों में उड्डीयान उत्तम बन्ध और मुक्ति प्रदाता है।

जालन्धर बन्ध :

कंठमाकुञ्चय हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्यु विनाशकः।।[२]

अर्थात् गले को सिकोड़कर चिबुक को हृदय पर दृढ़तापूर्वक लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह नाड़ी समूह के खुलने वाले भाग को

१. हठयोगप्रदीपिका ३/५५।
२. वही–३/६९।

बन्द कर देता है जिससे शून्य गगन से गिरता हुआ स्राव नीचे नहीं गिर पाता है। गले से सम्बद्ध सारे दुःख कष्ट नष्ट हो जाते हैं। अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु प्रकोप नहीं होता। कण्ठ के संकोचन से दो नाड़ियाँ कस कर बन्द हो जाती हैं। इसे मध्यचक्र कहते हैं और यह सोलह आधारों को रोक देता है। ये सोलह आधार हैं- अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, उरु, सीवनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठदेश, जिह्वा, नासिका, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्धा और ब्रह्मरन्ध्र।

मूलस्थान का आकुञ्चन करके उड्डीयान बन्ध करना चाहिये जिससे कि इडा और पिंगला को बांध कर वायु का प्रवाह सुषुम्ना की ओर बहने लगे। इस साधन से प्राण वायु लीन होती है मृत्यु बुढ़ापा और रोगादि नहीं होते। इन तीनों बन्धों को श्रेष्ठ मानते हुये महासिद्ध इनका अभ्यास करते हैं, सोम [चन्द्र] से झरने वाले दिव्य स्राव को यदि सूर्य ग्रहण कर लेता है तो व्यक्ति बूढ़ा हो जाता है। इसका उपाय यही है कि सूर्य के मुख को बन्द किया जाये। इसका उपदेश सहस्रों शासकों से भी नहीं होता, गुरु मुख से प्राप्त उपदेशों से होता है।

महाबन्ध :

बाँए पैर की एड़ी को योनिस्थान में लगायें फिर दक्षिण चरण को बाँए के ऊपर रखकर, श्वास खींच कर हृदय पर चिबुक को कसकर लगाके मन को भ्रूमध्य या सुषुम्ना में लगायें। यथाशक्ति वायु को धारण करके रेचक कर दें। बाँए अंग मे अभ्यास करके फिर दक्षिणांग में अभ्यास करें।

कुछ लोगों का मत है कि कण्ठबन्ध न लगायें, जिह्वा को दांतों के ऊपरी तले में लगाने से ही अच्छा बन्ध लग जाता है इसका तात्पर्य खेचरी से प्रतीत होता है। यह बन्ध सारी नाडियों की ऊर्ध्व गति को निरुद्ध करने वाला होने से महाबन्ध है और महासिद्धि का देने वाला है। मृत्यु के बन्धन को काटने वाला और त्रिवेणी [इडा, पिंगला, सुषुम्ना,] संगम पर ले जाकर चित्त को केदार [भ्रूमध्य] पर, जो शिव का स्थान है, पहुँचा देता है।

महावेध :

हठयोग प्रदीपिका कहती है कि जिस प्रकार रूप लावण्य से संपन्न स्त्री पुरुष के बिना निष्फल होती है उसी तरह महामुद्रा और महाबन्ध महावेध के बिना निष्फल होते हैं। महाबन्ध में बैठा योगी स्थिर चित्त से पूरक करके कंठ मुद्रा से वायु की गति को रोक दे।

दोनों हाथों को बराबर दूरी पर रखके स्वयं को ऊपर उठाकर धीरे धीरे नितम्बों की पृथ्वी पर ताडना दें, ध्यान करें वायु इडा पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना से प्रविष्ट हो रही है। इडा और पिंगला का संयोग अमृतत्व की प्राप्ति के लिये होता है। जब मृतावस्था उत्पन्न होने लगे रेचक कर देना चाहिये।

अभ्यास करने से महावेध महासिद्धि प्रदान करता है, बुढापे, श्वेत बालों, झुर्रियों को नष्ट करता है उत्तम साधक इसका सेवन करते हैं ये तीनों [महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध] बहुत गोपनीय, ज़रा मुत्यु के विनाशक, क्षुधा वृद्धि करने वाले और अणिमा आदि सिद्धियों के प्रदाता होते हैं। प्रतिदिन के आठ प्रहरों में आठ बार करने से पुण्य संचयकारी और पाप नाशक होते हैं। थोड़ा थोड़ा अभ्यास प्रारंभ करके धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये।

शक्ति चालिनी मुद्रा :

सिद्धासन अथवा पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियाँ पृथ्वी पर जमा दें। बीस-पच्चीस बार शनैः शनैः नितम्बों को पृथ्वी से उठा उठा कर ताड़न करें। यह वर्णन बड़ा अटपटा प्रतीत होता है। वस्तुतः नितम्बों का यहाँ कुछ गुप्त और सांकेतिक अभिप्राय है जिसे गुरुमुख से ही जाना जा सकता है। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से अथवा वाम से अथवा जो स्वर चल रहा है उस नासिका से पूरक करके प्राण वायु को अपान वायु से संयुक्त करके जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करें अर्थात् गुह्य प्रदेश का आकर्षण विकर्षण करते रहें। तत्पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर यदि

दोनों नासिकापुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक के विपरीत नासिकापुट से रेचक करें और निर्विकार होकर एकाग्रता पूर्वक बैठ जायें।

घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त-भर चौड़ा चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँधकर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना बताया है।

हठयोग प्रदीपिका में इसे विशेष रूप से कुण्डलिनी प्रबोधित करने वाला माना है। जिस मार्ग से ब्रह्म स्थान पर पहुँच सकते है उसके मुख को ढक कर परमेश्वरी सोई रहती है। योगियों को मोक्ष प्रदान करने के लिये और मूढ़ व्यक्तियों के बंधन के लिये ही यह कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊपर सोई है इसे जान लेने वाला ही योग को जानता है। उसका स्वरूप सर्प के समान कुटिल आकार वाला बताया जाता है जो योगी उस शक्ति को चालित करता है वह मुक्त हो जाता है। गंगा और यमुना संज्ञा से अभिहित इड़ा और पिंगला के मध्य में स्थित इस बाल ब्रह्मचारिणी तपस्विनी को बलात् ही पकड़ना होता है। वह विष्णु का परम पद है सर्पिणी के समान ही इस को पूँछ से पकड़कर सोते से जगाना चाहिये उसकी निद्रा टूट जाये तो वह शक्ति हठात् ऊपर की ओर चलती है इस सर्पिणी को प्रातः और सांय आधे प्रहर के लिये नित्य चलाना चाहिये इसके लिये परिधान विधि से सूर्य नाडी अर्थात् पिंगला में वायु भरकर चलाया जाता है। वज्रासन अथवा पद्मासन में दोनों पैरों को रखकर उन्हें हाथों से दृढतापूर्वक पकड़ें तब कन्द की स्थिति एडी के जोड़ के पास होगी जहाँ एड़ी से कन्द को दबाया जाये। योगी को चाहिये कि वह वज्रासन में बैठकर कुण्डली को चलाये उसके बाद भस्त्रिका करे जिससे कुण्डली शीघ्र जागृत् हो जायेगी। नाभि के निकट सूर्य का संकोचन [नाभि के संकोचन से] करके कुण्डली को चलाये फलतः मृत्यु के मुख में गये योगी का भी मृत्यु भय दूर हो जाता है। दो मुहूर्त तक निर्भय होकर संचालन करने से वह सुषुम्ना में प्रवेश द्वारा कन्द छोड़ देती है और प्राण स्वतः सुषुम्ना में प्रवेश कर जाते हैं।[१]

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३/९७-१११।

इसलिये सुख से इस कुण्डली शक्ति का नित्य चालन करना चाहिये इससे योगी रोगों से छुटकारा पा लेता है। अधिक क्या कहा जाये वह काल को ही जीत लेता है। जो योगी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहता है और परिमित भोजन करता है उसे [चालीस दिन] कुण्डली चालन का अभ्यास करने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके बाद भस्त्रिका को विशेष रूप से करना चाहिये-इस अभ्यास के परिणाम स्वरूप उसे यमराज का भय नहीं रहता है। बहत्तर हजार नाड़ियों के मल शोधन में शक्ति चालन के अभ्यास के सिवाय और उपाय क्या है। वह मध्यमा नाड़ी में योगियों के दृढ़ अभ्यास से आसन प्राणायाम और मुद्राओं के द्वारा सरल [सीधी] हो जाती है।

वे योगी जिनकी निद्रा अभ्यास से कम हो गयी है, और चित्त समाधि के कारण शान्त हो गया है उसे शाम्भवी मुद्रा के द्वारा तथा अन्य मुद्राओं से लाभकारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

वज्रोली मुद्रा :

यह मुद्रा ऊर्ध्व रेतस बनने की विधि है इसके लिये कहा गया है[१] कि योग के नियमों को न जानने वाला और स्वेच्छा से जीवन बिताने वाला भी यदि वज्रोली जानता है तो वह सिद्धियों का पात्र होता है इसके लिये दो दुर्लभ वस्तुऐं आवश्यक होती है एक तो दूध और दूसरी वशवर्तिनी नारी । संभोग के बाद स्रवित होने वाले बिन्दु को आकुञ्चन से रोकने का अभ्यास पुरुष और स्त्री जो भी सिद्ध कर लेगा उसे वज्रोली सिद्ध हो जाती है साधक को योनि में गिरे बिन्दु को अभ्यास करके खींच कर सुरक्षित करना चाहिये। इस प्रकार बिन्दु की रक्षा करने से योगी मृत्यु को जीत लेता है बिन्दुपतन से मृत्यु और बिन्दु को धारण करने से जीवन प्राप्त होता है[२]। बिन्दु धारण करने वाले योगी की देह में सुगन्ध उत्पन्न होती है। जब तक शरीर में बिन्दु स्थिर है तब तक कालभय नहीं हो सकेगा। मनुष्यों के चित्त के अधिकार में शुक्र और

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३/८२-८९।

२. शिवसंहिता ४/८८।

शुक्र के अधिकार में जीवन होता है इसलिये शुक्र और मन की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये।

शिवसंहिता एवं योग प्रदीपिका में इस प्रक्रिया का वर्णन दिया गया है। हठयोग प्रदीपिका का वर्णन इस प्रकार है–

शिवसंहिता के अनुसार– पहले योगी को चाहिये कि यत्नपूर्वक यथाविधि स्त्री की योनि के रज को लिङ्गनाल के द्वारा आकुञ्चन करके अपने शरीर में प्रविष्ट करे उसे अपने बिन्दु से सम्बद्ध करके लिङ्ग चालन करे यदि दैवात बिन्दु अपने स्थान से चले तो योनिमुद्रा से निरोध करके ऊपर से खींचने का प्रयास करे और उस बिन्दु को वामभाग में स्थित करके क्षणमात्र चालन रोक दे।

मूत्र त्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करें। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देखें कि मूत्रधारा कितने नीचे से आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है निरन्तर अभ्यास से जब मूत्रधार दस बारह अंगुल नीचे से आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिये कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल दूध तेल अथवा घी शहद और अन्त में पारा खींचने का अभ्यास करे।

फल :

लिङ्गेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस मुद्रा का फल हठयोग के शास्त्रों में अलौकिक सिद्धियाँ बतलायी गयीं हैं। परन्तु ज़रा सी असावधानी होने पर इन्द्रिय छिद्र में विकार होने से भयंकर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज को खींचने की चेष्टा में ऊंचे से ऊंचे अभ्यासी के लिये भी अध्यात्मिक पतन होने की सम्भावना बनी रहती है।

अश्विनी मुद्रा :– सिद्धासन अथवा पद्मासन से बैठकर योनिमण्डल को अश्व के सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल :– यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी जागृत् करने में

सहायक होती है। अपान वायु को शुद्ध और वीर्य वाही स्नायुओं को मज़बूत करती है।

उन्मनी मुद्रा : किसी सुख आसन से बैठकर आधी खुली हुई और आधी बन्द आँखों से नासिका के अग्रभाग पर टिकटिकी लगाकर देखते रहना[१] यह उन्मनी मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

अन्तरङ्ग साधना

प्रत्याहार :

आसन और प्राणायाम की सिद्धि के फलस्वरूप साधना क्रम में प्रत्याहार की गणना है। प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान पर पड़ा आवरण क्षीण हो जाता है विवेक ज्ञान रूपी प्रकाश तम तथा रजोगुण के कारण अविद्यादि क्लेशों के मलों से ढ़का रहता है। प्राणायाम के अभ्यास से जब यह आवरण क्षीण हो जाता है तब वह प्रकाश प्रकट, होना आरम्भ होता है।

पञ्चशिखाचार्य का कथन है-

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।

अर्थात् प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है[२]।

मनुस्मृति का कथन है जैसे धोंकनी से स्वर्ण वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियमल नष्ट होते हैं-

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

इसके साथ साथ प्राणायाम से मन स्थिर होता है और उसमें धारणा की योग्यता आती है[२]। मन की स्थिरता और ज्ञान के प्रकाश से इन्द्रियों की क्रिया शिथिल होती जाती है और वे अपने विषयों का साथ छोड़ने

---

१. तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्व योगं मनोयुञ्जंन्नुन्मनीकारकः क्षणात्॥ हठ.प्र. ४/३८

२. धारणासु योग्यता मनसः। पात.यो.सू. २/५३

लगती हैं इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा होता है, यही प्रत्याहार है यही इन्द्रियों से मन का आहरण है। प्रत्याहार शब्द का अर्थ होता है पीछे हटना, उल्टा होना अथवा विषयों से विमुख होना। इन्द्रियाँ अपने बर्हिमुख विषय से पीछे हटकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के अधीन होकर काम करती हैं। यम नियम प्राणायामादि के प्रभाव से चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर समाहित होने लगता है, तब इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होकर उसी के समान अनुसरण करने लगती हैं,[१] और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं यही उनका प्रत्याहार है। इस अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होता है, पर इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों से विमुख होती हैं, चित्त के समान आत्म तत्व के अभिमुख नहीं होती क्योंकि इतनी उनकी सामर्थ्य नहीं है। इसलिये 'अनुकार इव' अर्थात् नकल जैसा कहा गया है। इस प्रकार चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों के जीतने के लिये अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती।

सामान्यतः प्रत्येक जागतिक ज्ञान अथवा अनुभव में चित्त अपनी वृत्तियों की सहायता से और इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है इसके साथ ही वह उस विषय के रूप और गुणों के अनुरूप ही हो जाता है किन्तु योगी इस प्रक्रिया के विरुद्ध प्रयास करते हैं। चित्त अथवा मन यदि इन्द्रियों से सम्बद्ध न रहे तो विषयों की उपस्थिति में भी कोई ज्ञान नहीं होता और तब मन न सुख का अनुभव करता है, न दुःख का ही उसे राग द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, आदि कोई संवेग नहीं सताते हैं। अतः वह शान्त भाव से आत्मचिन्तन कर अपनी वृत्तियों के निरोध हेतु प्रयास कर पाता है जो कि परम निःश्रेयस है। अतः प्रत्याहार के अभाव में अगले योगाङ्ग धारणा, ध्यान और समाधि सम्भव नहीं हो सकते हैं। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने के पश्चात् ही मन किसी विशेष बिन्दु पर स्थिर होने योग्य बनता है। उस समय विषय भी

---

१. स्वविषयासम्प्रमोषो चित्तस्य स्वरूपाकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो.सू० २/५४

उपस्थित रहते हैं और इन्द्रियाँ भी किन्तु फिर भी चित्त उनसे प्रभावित नहीं होता है। यों तो स्वयंभू ने इन्द्रियों के छेदों को बाहर की ओर छेदा है अर्थात् इन्द्रियाँ बर्हिमुख होती हैं फलतः मनुष्य बाहर देखता है अपने अन्दर नहीं देखता। विरले पुरुष ही जो अमृत को चाहते हैं वे इन्द्रियों को [प्रत्याहार द्वारा] अन्तर्मुख करके अन्तर में देखते हैं[१] प्रत्याहार बाह्य साधन और आन्तरिक साधनों के मध्य की कड़ी हैं। इसके बाद ही परम वशीकार[२] होने से धारणा, ध्यानादि सम्भव होते हैं।

धारणा :

ध्यान की स्थिरता धारणा कहलाती है। धारणा से पूर्व के साधनों में मन को शारीरिक और भौतिक वातावरण से पृथक् करने की प्रक्रिया सम्मिलित थी। धारणा में प्रथम बार चेतना की शक्ति को अन्दर हृदय की ओर उन्मुख किया जाता है। चित्त की एकाग्रता ही धारणा है। यह किसी बाह्य विषय पर ध्यान को स्थिर करने से ही होती है। यह सर्वज्ञात तथ्य है कि चित्त स्वभावतः अपनी वृत्तियों के रूप में बाहर की ओर प्रवाहित होता है। चित्त के इस प्रवाह का दिशा परिवर्तन ही धारणा का उद्देश्य होता है। चित्त के बाहर की ओर प्रवाहित होने की अपेक्षा अन्दर की ओर प्रवाहित करना अधिक उत्तम होता है। धारणा का अर्थ होता है- संकल्प शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण मनस्तात्व की शक्ति को नियन्त्रित करना तथा यह एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा शक्ति का प्रवाह एक विषय की ओर प्रेरित किया जा सकता है सामान्यतः किसी वस्तु पर ध्यान एकाग्र किये बिना हम उसके विभिन्न पहलुओं अवस्थाओं तथा कार्यो को नहीं जान सकते हैं इसलिये एकाग्र ध्यान बहुत आवश्यक है। इसके अभाव में हम किसी क्षेत्र में कोई सफलता प्राप्त नहीं कर

---

१. पराञ्चिखानि व्यतृणत स्वयम्भूस्तस्मात्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। कठो.२/४

२. ततः परमावश्तेन्द्रियाणाम्। यो.सू. २/५५

सकते हैं। सफलता प्राप्त करने के लिये हमारे सम्मुख कोई उद्दिष्ट विषय होना चाहिये और मन उस पर इस प्रकार स्थित हो जाना चाहिये कि हम उस विषय से सम्बंधित छोटे से छोटे बिन्दु का भी अवलोकन कर सकें। यदि उसकी प्राप्ति के मार्ग में बाधाऐं हो, तो यह जान लें कि वे क्या हैं और किस प्रकार दूर की जा सकती है, क्योंकि जब तक बाधाऐं दूर नहीं होंगी सफलता भी नहीं प्राप्त हो सकेगी। प्रत्येक विचार अथवा कार्य में एकाग्रता आवश्यक होती है।

महर्षि पतञ्जलि ने किसी देश अर्थात् स्थान में चित्त के वृत्तिमात्र के द्वारा बन्ध को धारणा कहा है।[१] यह देश-नाभि चक्र, नासिकाग्र आदि कुछ भी हो सकता है[२] यह इच्छित कार्य का प्राथमिक प्रयोग है, किन्तु बाह्य विषय के आधार से ही धारणा की सिद्धि होती है, उसके अभाव में धारणा सम्भव नहीं है[३] धारणा से चित्त एकाग्र होता है। इसमें मन को दूसरे विषयों से हटाना होता है। इससे मन ध्यान के लिये तत्पर होता है।

प्राणायाम में निरंतर आध्यात्मिक देश की भावना करनी पड़ती है, ऐसा करते रहने से चित्त को वहाँ बांधने की योग्यता होती है योग सूत्रों में प्राणायाम द्वारा चित्त की स्थिति बताई गई है-इस स्थिति का अर्थ धारण ही है, जिसका तात्पर्य अभीष्ट विषय में चित्त को स्थापित करना है। इसी प्रकार जिह्वाग्र में धारणा करने से दिव्य रस संवित होता है वह रस प्रवृत्ति है। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर स्थिति में चित्त को दृढ़ बद्ध करती हैं, संशय को दूर भगाती हैं। ये समाधि प्रज्ञा की द्वार स्वरूप होती हैं। जिस चित्तबंध में केवल उसी देश का, जिसमें चित्त बद्ध

---

१. देशबन्धः चित्तस्य धारणा। यो.सू. ३.१

२. नाभिचक्रे हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि; ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इतिधारणा। व्यासभाष्य ३.१

३. एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र...,। विष्णु पुराण से उद्धृत।

किया गया है, ज्ञान होता रहता है और जब प्रत्याहत इन्द्रिय समूह स्वविषय का ग्रहण नहीं करते हैं, तब उस प्रकार प्रत्याहार मूलक धारणा ही समाधि की अंगभूत धारणा होती है। प्राणायाम आदि में भी धारणा का अभ्यास आवश्यक होता है, परन्तु वह धारणा मुख्य नहीं होती, उसे तो भावना कहना ही उचित है, उस भावना की उन्नति होने पर धारणा और ध्यान उत्पन्न होते हैं।

शैव योगमार्ग में धारणा के बारह विषय कहे गये हैं :

[१] मूलाधार, [२] स्वाधिष्ठान, [३] नाभिचक्र, [४] हृच्चक्र, [५] कण्ठचक्र, [६] राजदंत अथवा जिह्वामूल, [७] भ्रूचक्र, [८] निर्वाण चक्र, [९] ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर अष्टदल पद्म [१०] समष्टि कार्य, [११] कारण [महत्त्व वा अक्षर], [१२] निष्कल [गृहीत् पुरुष]। इनमें [१-५] ग्राह्य, [६-११] ग्रहण और [१२] ग्रहीता हैं।[१]

इन सब धारणाओं का अभ्यास करते करते चित्त के समाहित होने पर असम्प्रज्ञात योग हो सकता है परन्तु उसमें सम्यक् तत्त्व दृष्टि की अपेक्षा रहती है। निष्कल पुरुष प्राप्त होने पर तद्विषयक प्रज्ञा का निरोध होने से कैवल्य होता है।

धारणा प्रधानत: दो प्रकार की होती है-तत्त्वज्ञानमय धारणा तथा वैषयिक धारणा। ज्ञानयोगी सांख्यों की तत्ज्ञानमय धारणा होती है। इसमें ज्ञ-स्वरूप आत्मा में स्थिति पाने की चेष्टा करनी पड़ती है। इसमें भी अन्यान्य धारणाओं के समान इन्द्रियादि के अभ्यन्तरस्थ आध्यात्मिक देश का सहारा लेना होता है, किन्तु तत्त्वज्ञान ही इसका मुख्य आलम्बन है।

वैषयिक धारणाओं में शब्द और ज्योति की धारणा होती है। इनमें हार्य ज्योति का अवलम्बन कर बुद्धि तत्त्व की धारणा अर्थात् ज्योतिष्मती प्रवृत्ति प्रधान है। शब्द धारणाओं में अनाहतनाद की धारणा प्रधान है।

---

१. श्री भगीरथ मिश्र द्वारा स्वामी हरिहरानन्द आरण्यककृत 'पातञ्जल योगदर्शन' में उद्धृत, पृ० २०९-२१०.

ध्यान :

'ध्यानावस्थिततद्ग तेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो'-शंकराचार्य

सिद्ध पुरुषों एवं योगियों की साधना में ध्यान का अन्यतम स्थान होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं-सिद्धि जन्म से, औषधियों के प्रयोग से, मन्त्रों के जप से, तपस्या से अथवा समाधि के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं।[१] इन सभी में ध्यान सन्निविष्ट रहता है जन्म से प्राप्त सिद्धि के विषयों में ध्यान का अभ्यास दिखाई नहीं देता किन्तु पूर्व जन्मकृत साधना के फलस्वरूप ही उनकी प्राप्ति सम्भव हुई होगी-यह माना जा सकता है मंत्रों का जप ध्यान के साथ होने पर ही शीघ्र सिद्धि प्रदाता होता है तप और समाधि भी ध्यान के पर्याय कहे जा सकते हैं। अत: यह सर्वमान्य तथ्य है कि साधना की सिद्धि अथवा सिद्ध पुरुषों की साधना का ध्यान के साथ अटूट सम्बन्ध होता है। वे सिद्ध चाहे नाथ हों, कौल हों, तान्त्रिक हों, भक्त अथवा योगी सभी की साधना ध्यानाधारित होती है।

ध्यान वह दशा है, जिसमें एक ही वस्तु का ज्ञान होता है। इस स्थिति में अन्य वस्तुओं का विचार मन में नहीं उठता ध्यान की दशा में ध्यान, ध्येय और ध्याता का अलग-अलग ज्ञान रहता है।

ध्यान शब्द की व्युत्पत्ति 'ध्यै' धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय लगाकर की जाती है। इस शब्द का प्रयोग चिन्तन अथवा अन्तरिन्द्रिय के वृत्ति-प्रवाह आदि अर्थों में किया जाता है। पातञ्जल-महाभाष्य की उक्ति के अनुसार शास्त्रोक्त देवता आदि आलम्बनों में अचल व अभिन्न जाति का अन्तरित प्रत्यय-सन्तान एकाग्रता कहा जाता है।[२] ध्येय के प्रति एकतानता के अर्थ में अर्थात् एक विषय पर स्थित चित्त की भगवदाकार

---

१. जन्मौषधिमन्त्रतप: समाधिजा सिद्धय: । पा.यो.सू. ४/१

२. शास्त्रोक्त देवताद्यालग्बनेष्वचलो भिन्न जातीयैरनन्तरित: प्रत्ययसन्तान एकाग्रतेतियमाहविर्ति। -महाभाष्य

वृत्ति प्रवाह के उत्तरोत्तर अनन्याकार अव्यवहित प्रत्यय अथवा निदिध्यासन नामक चित्त की आत्माकार वृत्ति के अर्थ में भी ध्यान का प्रयोग होता है। परमात्मचिन्तन अर्थ में ध्यान, निरुद्ध व्यक्ति की त्रिनेत्र, पञ्चवक्त्र आदि आकार विषयों में धारणा को कहते हैं। साथ ही इसका प्रयोग 'चिन्ता' अर्थ में भी हुआ है। उस देश में, जहाँ ध्यान स्थिर करना है, ज्ञान की एकतानता अर्थात् विसदृश-परिणाम के परिहार के द्वारा जब धारणा का अवलम्बन किया जाता है और उसी रूप में जब ध्यान की निरन्तर उत्पत्ति होती है, वह ध्यान कहलाता है।

अवधि के नियत काल को जो प्राप्त करती है, वह धारणा कही जाती है। ध्येय से युक्त जिसका मन ध्येय को ही देखता है-दूसरे पदार्थ को जानता ही नहीं- उसे ध्यान कहते हैं। ध्येय का चिन्तन करते करते जब मन ध्येय में ही निश्चल हो जाता है, उसे तत्त्वचिन्तक परम ध्यान की संज्ञा देते हैं।[१]

योग के अनुसार किसी भी बाह्य अथवा आन्तरिक विषय पर चित्त के देशबन्ध को एक लम्बे समय तक चालू रखना ही अवधान है।[२] धारणा में प्रत्यय अथवा ज्ञान वृत्ति केवल अभीष्ट देश पर आबद्ध रहती है, परन्तु तब वह प्रत्यय खण्ड रूप से धारावाहिक क्रम से चलता रहता है। अभ्यास बल से जब वह एकतान या अखण्ड धारा की भाँति होता है, तब उसे ध्यान कहते है। यह योग का पारिभाषिक ध्यान है। यह चित्तस्थैर्य की अवस्था विशेष है। किसी भी ध्येय विषय पर इस ध्यान का प्रयोग हो सकता है। धारणा के प्रत्यय की तुलना पानी की बूंद की धारा से की जा सकती है और ध्यान की उपमा हम तेल धारा अथवा

---

१. प्राप्यावधिकृतं कालं यावत् सा धारणा स्मृता। ध्येयमत्कं मनोयस्य ध्येयमेवानुपश्यति। नान्यंपदार्थं जानाति ध्यानमेतत् प्रकीर्तितम् ध्येये मनोनिश्चलतां यातिध्येयं विचिन्तयन् यत्तद्ध्यानं परं प्रोक्तं मुनिभिर्ध्यानचिन्तकैः। गरुणपुराण ४२० अ।

२. तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्।-यो.सू. ३.२.

शहद की एकतान धारा से कर सकते है। एकतान प्रत्यय में ऐसा बोध होता है, मानों एक ही वृत्ति उदित हो रही है। यह सातवां योगाङ्ग है। एक विषय पर धारणा की स्थिरता ध्यान की ओर प्रेरित करती है, और यह तभी होता है, जब कि उसके द्वारा उत्पन्न ज्ञान एक लम्बे समय तक अव्यवहित रूप से चलता रहता है। एक अर्थ में इसे अन्तर्दशन का सूक्ष्म रूप कहा जा सकता है। आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के समान अवधान के क्षेत्र अथवा विस्तार की समस्या योग मनोविज्ञान में नहीं होती विस्तार की अपेक्षा ध्यान की गहराई पर बल दिया गया है। अवधि और गम्भीरता दोनों ही ध्यान के तत्त्व हैं।

ध्यान की इस अवस्था का नाम चित्त की एकाग्रावस्था है। यह अवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं प्रथम तो हम किसी वस्तु की इच्छा करते हैं। जब हमारी इच्छित वस्तु पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है तब संकल्प शक्ति कार्यशील होती है। अत: ध्यान संकल्प शक्ति की सहायता करता है और संकल्प शक्ति ध्यान को संयमित करती है। ये दोनों एक ही शक्ति के दो रूप है एवं परस्पर अविभाज्य रूपेण संयुक्त हैं। इस गहन एकाग्रावस्था की सबसे महत्वपूर्ण प्राप्ति भौतिक संसार के पीछे स्थित वास्तविक सत्ता का अनुभव है। जब मानसिक शक्तियाँ एक विषय पर लग जाती है सभी विभिन्न तत्त्व एक रूप हो जाते हैं और मन अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है। एकाग्रता का अर्थ है-सम्पूर्ण मनस्तत्व की शक्ति का संयम, जो कि संकल्प के द्वारा ही संभव है। न केवल पारमार्थिक सत्ता के ज्ञान हेतु प्रत्युत् भौतिक प्रगति हेतु भी प्रत्येक क्षेत्र में ध्यान अथवा एकाग्रता अनिवार्य है। आत्मा का स्वरूप तो मन की चंचल अवस्थाओं में जब कि ध्यान एकाग्र न हो, अनुभव किया ही नहीं जा सकता। इसलिये योग उपदेश देता है कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को एकाग्र बनाओ, तभी मानसिक प्रकाश की उत्पत्ति हो सकेगी।

सिद्ध सम्प्रदाय की साधना में ध्यान अत्यधिक महत्वपूर्ण सोपान होने के कारण उसके अभ्यास की विभिन्न विधियों एवं प्रकारों पर चर्चा हुई है। यथा- जप के साथ ध्यान, नाम ध्यान, रूप ध्यान, निराकार ध्यान, स्वरूप ध्यान, विचार रूप ध्यानादि। इन पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल लेना समुचित प्रतीत होता है।

नामध्यान :- नाम की शब्दमयी मूर्ति का ध्यान अथवा नाद ध्यान मन को एकाग्र कर सिद्धि देता है नेत्र निमीलन पूर्वक प्रसन्न और प्रशान्त चित्त से यह भावना करनी चाहिये कि नाम स्वत: अन्तर में अनाहत रूप से ध्वनित हो रहा है एवं मन को सब प्रकार के चिन्तन से प्रत्याहृत करके उसी नाद श्रवण में रत रहना चाहिये।

नाम की समुज्ज्वल मूर्ति की स्निग्ध ज्योति में अन्त: करण के मूल विक्षेप और आवरण दोष नष्ट हो जाते हैं और धीरे धीरे परमात्म स्वरूप का सांक्षात्कार होने लगता है।

रूपध्यान :-

जिन साधकों की रुचि अपने इष्ट देव के रूप ध्यान में हो, वे अपनी रुचि के अनुरूप चक्षुग्राह्य साकार रूप का ध्यान कर सकते हैं अथवा मनोग्राह्य निराकार रूप का भी ध्यान कर सकते हैं-क्योंकि भगवान साधक की भावना के अनुरूप साकार भी हो जाते हैं और निराकार तो वे हैं ही। वे तो 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुरूप साकार और निराकार दोनों ही रूपों में प्रकट होकर साधक को कृतार्थ कर देते हैं।

सिद्ध साधना में ऐसी चर्चाएं भी हुई हैं यथा ध्येय इष्ट मूर्ति की स्थापना कहाँ करनी चाहिये अथवा इष्ट के किस अंग से ध्यान का

---

१. योगरहस्य, पृ० ४२।

अभ्यास आरम्भ करना चाहिये? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में योगिराज गंभीरनाथ जी[१] के निर्देश हैं कि इष्ट देवता के आसन रूप में साधक के हृदय में ही प्रभु का प्रकाश होता है अतः हृदय मन्दिर में उनकी प्रतिष्ठा करके ध्यान करना सर्वश्रेष्ठ है। ध्यान प्रभु के किस अंग से आरंभ किया जाये? इस विषय में उपदेश दिये गये है कि ध्येय मूर्ति के चरण कमल से ध्यान का आरम्भ करना चाहिये फिर क्रमशः अभ्यास से जब हृदय में सर्वावयव विशिष्ट समुज्ज्वल मूर्ति प्रकाशित होने लगे तब मूर्ति और मूर्तिमान का अभेद चिन्तन करते हुए उसी पर दृष्टि को निश्चल करके समाहित होने की चेष्टा करनी चाहिये।

जिन साधकों की धारणा शक्ति पर्याप्त विकसित हो वे भगवान के विश्वरूप का ध्यान कर सकते हैं। यह विराट् विश्व ब्रह्माण्ड ही उनका विश्वरूप है। भूः भुवः स्वः तपः महः जनः सत आदि ऊपर के सप्त लोक और तल अतल सुतल वितल तलातल महातल पाताल आदि नीचे के सात लोक ये चतुर्दश भुवन ही भगवान की देह हैं। स्थावर जंगम, छोटे, बड़े स्थूल सूक्ष्म सभी पदार्थ उनके अंग है। साधक को इस प्रकार ध्यान करना चाहिये कि उसके बाहर भीतर ऊपर नीचे दाहिने बांऐ आगे-पीछे सर्वत्र एक अद्वितीय भगवान ही आत्म विस्तार करके नित्य विराजमान हैं एवं साधक ब्रह्म सागर के बिन्दु रूप में स्थित है। यहाँ तक कि आँखें खोलकर विचरण करते समय भी उसे ऐसी भावना करनी चाहिये कि वह जो कुछ देखता है, सुनता है, उस सबमें प्राप्त होने वाले अनुभव प्रभु के ही दर्शन, श्रवण, स्पर्श, आस्वादन तथा आघ्राण हैं।

निराकार ध्यानः-

जो साधक निराकार की साधना में निरत हैं और उसी का ध्यान करना चाहते हैं उन्हें निराकार के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि उनका अन्तःकरण स्थूल शब्द, स्पर्श, रूप,

---

१. योगरहस्य, पृ० ६७।

रस, गन्ध का अतिक्रम कर ले और सूक्ष्म में स्थिर हो जाये जिससे कि वे निराकार की धारणा करने में समर्थ हो सकें ऐसे समर्थ साधकों को सर्वान्तर्यामी निराकार ब्रह्म का ध्यान करने का अभ्यास करना चाहिये।

स्वरूपध्यान :

महान् ब्रह्म निष्ठ गुरु बहुत थोड़े साधकों को जो साधना में पर्याप्त प्रगति कर चुके होते हैं, सोऽहम् अथवा अहं ब्रह्मास्मि का ध्यान करने का उपदेश देते है। पूर्व निराकार ध्यान में ध्याता और ध्येय का पार्थक्य रहता है। यह द्वैतभाव वर्तमान रहने से वह ध्यान सविकल्पक ही रहता है। गुरु से 'तत्त्वमसि' का उपदेश पाकर जब साधक की चेतना में स्वरूप ज्ञान स्फुरित होता है तब उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा अनुभव होता है। वह अपने स्वरूप को पहचानने लगता है जिससे उसकी सर्वभाव विर्निमुक्त चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठा होने लगती है। इस ध्यान में भक्ति और ज्ञान का मिश्रण रहता है। यह 'सोऽहम्' का ध्यान है जिसके चित्त में अद्वैत का संस्कार विशेष रूप से प्रस्फुटित हो पाता है ऐसे ही विरले साधकों को इसका उपदेश प्राप्त होता है। यह आत्म स्वरूप का ध्यान है। इसमें सुतीक्ष्ण विचार की सहायता से जगत के मिथ्यात्व को समझकर बर्हिजगत के सब पदार्थों का ज्ञान शून्य करके नित्य शुद्ध मुक्त ज्ञान स्वरूप आत्मा में चित्त को समाहित किया जाता है। इसका अभ्यास करते करते ध्याता स्वयं ध्येय बन जाता है ज्ञाता ज्ञेय का द्वैत मिट जाता है कोई उपाधि नहीं रहती।

विचाररूप ध्यान :

विचार ही ध्यान है। यथासम्भव एक निष्ठ चित्त से आत्म विचार करना चाहिये। किसी प्रकार के रूप का ध्यान इसमें नहीं होता केवल आत्म अनात्म विचार को सतत जाग्रत रखना होता है तथा आत्म चिन्तन में सदैव चित्त को लगाये रखना चाहिये। अविचल श्रद्धा और विश्वास के साथ गुरुपदिष्ट नाम साधन में निष्ठावान् होने पर गुरुशक्ति समन्वित

नाम के प्रभाव से विचार और ध्यान दोनों ही क्रमशः उच्चतर भूमि पर उठते जाते है। सत्य का प्रकाश और उसके प्रति प्रेम भी पूर्णता को प्राप्त होता है।

समाधि :

योग में समाधि को साधन भी माना गया है और साध्य भी।

ध्येयवस्तु के स्वरूप को प्राप्त हुआ मन जब अपने ध्यान स्वरूप का परित्याग करके और संकल्प विकल्प से रहित होकर केवल ध्येय वस्तु के स्वरूप में स्थित होता है तब उसकी उस अवस्था को योगीजन समाधि कहते हैं। व्युत्थान संस्कारों का तिरस्कार और निरोध संस्कारों के प्रकट होने पर अन्तःकरण का एकाग्रता रूप परिणाम समाधि है। यह समाधि दो प्रकार की होती है, एक सविकल्पक और दूसरी निर्विकल्पक। ज्ञाताज्ञेय ज्ञान रूप त्रिपुटी भान सहित अद्वितीय ब्रह्म विषयक अन्तकरण की वृत्ति की स्थिति सविकल्प समाधि है। इसमें चित्त की वृत्ति को ब्रह्म में लय कर देना होता है और इसका कुछ विचार नहीं रहता कि ज्ञाता और ज्ञान में भेद है या नहीं। किसी न किसी एक अवलम्बन की आवश्यकता रहती है। प्रज्ञा के संस्कार भी रह जाते हैं। यह चित्त की एकाग्र अवस्था होती है। निर्विकल्पक अथवा असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा यह बहिरंग है[१] और यह निर्विकल्पक समाधि की प्राप्ति में सहायक होने से साधन स्वरूप है।

सम्प्रज्ञात योग के मुख्य चार भेद हैं-

वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः[२]।

वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगम, विचार के सम्बन्ध से होने वाली का नाम विचारानुगम, आनन्द के

---

१. तदपि बहिरंग निर्बीजस्य। यो.सू. ३/८

२. यो.सू. १/१७।

सम्बन्ध से होने वाली का आनन्दानुगम और अस्मिता के सम्बन्ध से होने वाली समाधि का नाम अस्मितानुगम हैं। स्थूल विषय या पदार्थो में होने वाली समाधि का नाम 'वितर्कानुगम' समाधि है। इसके पुनः दो भेद हैं- सवितर्क और निर्वितर्क।

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य उन स्थूल पदार्थो में शब्द, अर्थ, ज्ञान, के विकल्पों से युक्त समापत्ति का नाम सवितर्क समाधि है।[१]

स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्त वृत्ति रहित होने पर जिसमें साधक को अपने स्वरूप के ज्ञान का अभाव सा होकर केवल अर्थ अथवा ध्येयमात्र की ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्वितर्क समाधि है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, आदि, सूक्ष्म तन्मात्राएं मन, बुद्धि अहंकार और मूल प्रकृति एवं दश इन्द्रियां इनमें होने वाली समाधि का नाम विचारानुगत समाधि है।[२] इस सूक्ष्म विषयता की सीमा आलिंग यानी मूल प्रकृत्ति तक है[३]। इसके भी दो भेद हैं- सविचार-निर्विचार।

सविचार- स्थूल पदार्थों को छोड़कर शेष मूल प्रकृति पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्यों में नाम, रूप, ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त समापत्ति का नाम सविचार समाधि है।

निर्विचार :- जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थो को छोड़कर शेष मूल प्रकृति पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्य में स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थात् शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्त वृत्ति भलीभांति रहित होने पर जिसमें योगी को अपने स्वरूप के ज्ञान का अभाव सा होकर, केवल अर्थमात्र की ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्विचार समाधि है।

---

१. शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। यो.सू. १.४२
२. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता। यो.सू. १.४४
३. सूक्ष्यविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। यो.सू. १.४५

कार्य सहित प्रकृति जो दृश्य वर्ग है, इसी का नाम बीज है, इसलिये इसको लेकर होने वाली समाधि का नाम सबीज समाधि है[१]।

आनन्दानुगम :- अन्तःकरण की स्वच्छता से उत्पन्न होने वाले आह्लाद यानि प्रिय, प्रमोद आदि वृत्तियों में जो समाधि होती है, उसका नाम आनन्दानुगता है। वितर्क और विचार ये दोनों समाधियाँ केवल दृश्य जड़ पदार्थों में है परन्तु आनन्द की उत्पत्ति जड़ और चेतन के सम्बन्ध से होती है। इस आनन्द में आत्मा की भावना करने से विवेकख्याति द्वारा आत्मसाक्षात्कार भी हो जाता है।

सास्मिता समाधि :- चेतन द्रष्टा की चिन्मयशक्ति एवं बुद्धिशक्ति इन दोनों की जो एकता सी है उसका नाम अस्मिता है[२]। पुरुष और बुद्धि की एकरूपता की सी प्रतीति होना अस्मिता है। इसलिये बुद्धिवृत्ति और पुरुष की चेतनशक्ति की एकता के से स्वरूप में जो समाधि होती है, उसका नाम अस्मितानुगता समाधि है। आनन्दानुगम तो चेतन पुरुष और बुद्धि के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले आह्लाद में होती है किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धि की एकात्मता की सी स्थिति में होती है। इस समाधि से पुरुष और प्रकृति का पृथक् पृथक् रूप से ज्ञान हो जाता है।

इसके उपरान्त इन सबमें भी वैराग्य होने पर, क्लेश कर्म के मूलभूत दोष की निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[३]

असम्प्रज्ञात समाधि :

चित्त वृत्तियों के अभाव के अभ्यास से उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें

---

१. ता एव सबीजः समाधिः। यो.सू. १/४६

२. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता। यो.सू. २/६

३. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। यो.सू. ३.५०

केवल चित्त निरोध के संस्कार ही शेष रहते हैं, वह सम्प्रज्ञात समाधि है[१]। इसमें चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्त निरोध के संस्कार ही रह जाते हैं। अद्वैत ब्रह्माकार अन्तःकरण की अज्ञात वृत्ति सहित हो वह अद्वैत भावनारूप असम्प्रज्ञात समाधि है। इसके अभ्यास से जब अन्तःकरण की वृत्ति शान्त हो जाती है तब वृत्तिरहित अद्वैत अवस्थान रूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे तप्त लोहे पर जल की बूंद गिरी हुई तप्त लोहे में प्रवेश करती है, तद्वत अद्वैतभावना रूप समाधि के दृढ़ अभ्यास से अत्यन्त प्रकाशमान् ब्रह्म में वृत्ति का लय होता है इस असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधि में बुद्धि वृत्ति अद्वितीय ब्रह्म में उसी का आकार बनकर एक भाव से अवस्थित हो जाती है।

इसमें ज्ञाता ज्ञानादि के भेद की कोई अपेक्षा नहीं रहती है जैसे लवण जल में मिलकर जलरूप ही हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में चित्तवृत्ति लीन हो जाने से ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी दिखायी नहीं देता।

इसमें कोई अवलम्बन नहीं रहता है। सब वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। यह चित्त की निरुद्धावस्था होती है और पर वैराग्य इसका कारण है। इसमें प्रज्ञा के संस्कार भी नहीं रहते हैं इसके अन्त में चित्त का विनाश हो जाता है, तब धर्ममेघ समाधि होती है। इसी अवस्था को आत्मसाक्षात्कार कहते है। यही जीव का अन्तिम लक्ष्य है, साध्य है, जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है।

---

१. विराम प्रत्यायाभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः। यो.सू. १/१८

पञ्चम-अध्याय

उपसंहार

सिद्ध सम्प्रदाय की साधना और उसका स्वरूप :

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में जिस साधना का अध्ययन किया गया उस सिद्ध सम्प्रदाय के अपर नाम नाथ सम्प्रदाय, नाथयोग, सिद्धमत आदि भी हैं। इस सम्प्रदाय से साम्य रखने वाले कौलमत, तन्त्रशास्त्र, सहज साधना और रस सिद्धान्त आदि पर भी विहङ्म दृष्टिपात किया गया है और उनकी साधना के प्रमुख बिन्दुओं पर भी चर्चा की गई अधिकांश बिन्दु उक्त सभी साधनाओं में सामान्य हैं यथा साधना में योगाङ्गों का स्थान, ब्रह्मचर्य की आवश्यकता, गुरु का माहात्म्य एवं ध्यान की साधना पर बल, उक्त सभी मतों में समान रूप से स्वीकृत हैं। यहाँ हमारे अध्ययन का विषय 'सिद्ध अथवा नाथ सम्प्रदाय की साधना' होने से उसके स्वरूप पर विचार करना विशेषकर अपेक्षित है।

सिद्ध सम्प्रदाय अथवा नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध प्रायः शैव रहे हैं। शैवों के भी पाशुपत और आगमिक दोनों ही प्रस्थानों से उन्हें सम्बद्ध माना जाता है। आगमिक शैवों में अभिनवगुप्त की महत्ता सर्वमान्य है। इन लोगों में तान्त्रिक साधना प्रचलित थी। अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' की रचना की। नाथों के शैव होते हुए भी वे शक्ति की पूजा करते थे इसलिये उन्हें शाक्त भी समझा जाता है। वे शिव और शक्ति को सम्पूर्ण सत्ता का एकमात्र कारण और जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान कर उनकी पूजा करते हैं। जिसमें योनि लिंग की पूजा भी सम्मिलित है। तन्त्रों में ये दोनों शक्ति और शिव के प्रतीक हैं। नाथ सिद्धों ने देश के कोने कोने में शिव एवं काली के मन्दिरों का निर्माण कराया। शिव के वक्ष पर नृत्य

करती हुई काली के माध्यम से विश्व और उसके आन्तरिक सत्य के प्रति उनका दृष्टिकोण सुन्दरतम रूप में प्रकट होता है। इसके साथ ही वे पूर्ण उदार भाव से सभी देवी देवताओं को मान्यता एवं श्रद्धा देते हैं। जिन्हें वे शिवशक्ति की ही आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। दक्षिणी भारत, महाराष्ट्र, पश्चिमी भारत, बंगाल तथा अन्य अनेक स्थानों पर बहुत से वैष्णव भक्त भी अपने सिद्धान्तों को गोरखपन्थ से ही उद्‌भूत मानते हैं। विष्णु और उनके सभी अवतारों की पूजा भी विधिवत् होती है। साथ ही वे सिद्धों एवं अवधूतों की पूजा भी करते है। इनकी पूजा एवं ध्यान में साधक के मन को शुद्ध करने एवं प्रेरणा प्रदान करने की सामर्थ्य है। इन सबसे ऊपर पूर्ण श्रद्धाप्रेम से गुरु पूजा एवं गुरु के प्रति आत्मसमर्पण की भावना पर भी अत्यधिक बल दिया गया है। गुरु की कृपा के अभाव में योगमार्ग में प्रगति तथा वास्तविक आध्यात्मिक ज्योति की प्राप्ति असम्भव मानी जाती है। गुरु अपनी जागृत् आध्यात्मिक शक्ति को शिष्य में संक्रान्त कर उसकी सुप्त शक्तियों को जागृत् कर देता है। गुरु को शिवस्वरूप ही माना जाता है। जो कि स्वयं साधक शिष्य के अज्ञान के बन्धनों को काटने, उसकी दुर्बलताओं को दूर करने और उसकी आत्मा को ज्ञानालोक से प्रकाशित करने के लिये अपनी असीम करुणा के साथ अवतरित होते हैं।

इस प्रकार पूजक सम्प्रदाय के रूप में इन सिद्धों की दृष्टि अत्यन्त उदार रही है। ये शिव, विष्णु, काली, आदि देवों में भिन्नता नहीं मानते हैं। किसी देवता के प्रति अश्रद्धा नहीं रखते हैं। हिन्दू समाज की जातिगत संकीर्णता भी इनमें नहीं होती है। चरित्र और पवित्रता पर विशेष बल दिया जाता है। नैतिक नियमों का पालन, हृदय में सत्य एवं भक्ति की भावना आदि प्रधान माने जाते हैं इन विशेषताओं के कारण गोरक्षनाथ तथा उनके सम्प्रदाय के अन्य सिद्धों के सिद्धान्त एवं पूजा पद्धति समाज में लोकप्रिय हुए।

बाह्य पूजा की स्वीकृति एवं मान्यता होने पर भी सिद्धों की साधना में अन्तर दृष्टि एवं आन्तर प्रयत्न प्रधान रहे हैं। जैसा की हम देख चुके हैं सिद्धों का सम्बन्ध तन्त्र एवं योग विशेष से है वे योगी भी है और तान्त्रिक भी। उनमें शाक्तों के दक्षिण और वाम दोनों मार्गों का प्रभाव

मिलता है। पहाड़ी प्रदेशों के साधक तान्त्रिक क्रियायें करते हैं।[१] सिद्ध गोरक्षनाथ एवं अनके अनुयायियों के उपदेशों में तान्त्रिक तत्त्व प्रधान है। आसाम और बंगाल के नाथयोगियों में शक्ति की पूजा तान्त्रिक विधान से होती है[२] इसके अतिरिक्त अभिनव गुप्त का प्रभाव इन सिद्धों पर विशेषेण पड़ा है। गोरक्षनाथ, पुण्यानन्द, नटनानंद, स्वतन्त्रतानंद, और भास्कर राय आदि को अनेक विद्वानों ने अभिनवगुप्त का अनुयायी घोषित किया है।[३] ये अभिनव गुप्त शाक्त साधन के प्राण थे। वे एक प्रसिद्ध कौल भी थे। साधना में तन्त्र के प्रभाव की पुष्टि सिद्धयोगियों के प्रमाण ग्रंथो से होती है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में अनेक तन्त्र ग्रंथो को प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है। नाथ सिद्धों के अनुसार सभी शैव एवं शाक्त मार्ग तन्त्रानुसारी है। नाथ सिद्ध तन्त्रों के उपदेष्टा ही नहीं रचयिता भी है। साथ ही वे मानते है कि तान्त्रिकों के अनुष्ठान बहिरङ्ग होते है और अवधूत योगी अन्तरङ्गपूजन अथवा सूक्ष्म शक्ति कुण्डलिनी की पूजा करते हैं। वे तंत्रो के अनुसार शिव, भैरव, श्रीकंठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा के क्रम को स्वीकार करते हैं।[४] यह पारमार्थिकी प्रक्रिया है जो योग से ही आई है। तन्त्रों में दिव्य साधक को कौल कहा जाता है। कौल के लिये लाभ हानि, पाप पुण्य समान होते हैं। नाथसिद्धों को भी कौल नाम से पुकारा जाता है।[५] इस विवरण से पुष्टि हो जाती है कि नाथों का तन्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध था जो कि सैद्धान्तिक ही नहीं साधनात्मक भी था।

साधन की दृष्टि से नाथसिद्ध षडंग के साधक हैं। आसन, मुद्रा, बन्ध, प्राणायाम, एवं ध्यान आदि इनकी साधना के प्रमुख आधार हैं। इन क्रियाओं का एक विकास मन्त्रयोग के रूप में और दूसरा हठयोग के रूप में हुआ। हठयोग का नाथ सिद्धों से विशेष सम्बन्ध रहा है। इसमें

---

१. गो.क.यो. ब्रिग्स पृ० १६२-१६३, १७१-१७२।

२. वही, पृ० २७४।

३. डॉ० राधाकृष्णन हिस्ट्री आफ फिलासफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, भाग प्रथम तथा डॉ० गोपीनाथ कविराज शैव शाक्त स्कूल, शाक्त फिलासफी।

४. गो.सि.सं.पृ० १९-२०।

५. ना.स.इ.द.सा.प्र., पृ० १६४-१६५।

प्राण नियमन को प्रधानता दी गई। साथ ही नाड़ी शोधन, चक्र नाड़ी तथा कुण्डलिनी आदि से सम्बन्धित अभ्यास किये जाते हैं। हठयोग को प्रधान मानते हुए भी यह सम्प्रदाय स्वीकार करता है कि हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। हठयोग प्राणायाम प्रधान है। मन्त्रयोग, लय योग और राजयोग में भी प्राणायाम और हठयोग सहायक है। प्राण अधिभूत तत्त्व है। अतः प्राणायाम का हठयोग आधिभौतिक साधन है। एक सफल ध्यानयोगी शरीर से क्षीण, दुर्बल, अल्पायु और रोगी हो सकता है वह अपनी इच्छा से शरीर त्याग नहीं कर सकता। दूसरी ओर हठयोग की क्रियाओं से सिद्धदेह की प्राप्ति होती है, जिसे पाकर सारे मानस साधन एवं इच्छा मृत्यु सुलभ हो जाते हैं।

सिद्धदर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति ही परमादर्श है। देहपात से जो मुक्ति होती है वह यथार्थ मुक्ति नहीं है क्योंकि उसमें देहपात रूपी प्रतिबन्धक बाधक होता है। सिद्धों की मान्यता है कि जिस देह से परमपद प्राप्ति होती है उस देह की रक्षाकर उसे अजर अमर बनाना कर्त्तव्य है।

अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि।[१]

कायसिद्धि होने पर इच्छा मृत्यु का वरण सम्भव हो जाता है। सिद्धयोगी प्रारब्ध का क्षय करता है। सिद्धमत में देह ही आत्मा है। विक्षेपों के रहते शुद्ध देह लाभ नहीं होता है। ये सिद्ध शक्तियुक्त चैतन्य को स्वीकार करते हैं। सिद्धयोगी कालजयी होते हैं। योगी का शरीर ही योगदेह या सिद्धदेह है। मृत्यु के वश में रहने वाला मुक्त नहीं होता। परामुक्ति होने पर देहपात नहीं होता।[२] समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाना ही मोक्ष है यही जीवन्मुक्ति है[३] इसमें शरीर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। चिन्मय हो जाता है। पिण्डसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। संक्षेप में कह सकते हैं कि नाथ सिद्धों का लक्ष्य है जीवन्मुक्त सिद्ध देह से नाथ रूप में अवस्थान अथवा

१. योग-बीज।
२. ना.स.इ.दं. सा.प्र., पृ० २९२,२९६-२९७।
३. अमरौघशासनम्, पृ० ९।

पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण।[1] जब तक चित्त देहात्मबोधमूलक क्षोभ से मुक्त न हो, तब तक इसमें शान्ति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारम्भ नहीं होता। चित्त शान्ति से अद्वय प्रकाश उदित होता है, द्वैतभाव निवृत्त हो जाता है चित् शक्ति के प्रकाश से योगी निज देह के पूर्णज्ञान को प्राप्त करता है। नाथ सिद्धों का लक्ष्य यह है कि पहले पिण्डसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो। इससे काल वंचन सिद्ध होता है। इसके बाद समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सिद्धि होती है यही समाधि की स्थिति है। बिना गुरु कृपा और शुद्धदेह के इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये सिद्ध सम्प्रदाय के साधनमार्ग में यह कायसिद्धि आवश्यक मानी जाती है जिसका लक्ष्य है समरसीकरण[2]। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के अनुसार योगी को पिण्डगत नवचक्र, षोडशाधार, तीनलक्ष्य, पंचव्योम, अवश्यक जानना चाहिये। जो योगी पिण्डगत एक स्तम्भ, नवद्वार, पञ्चदेवता आदि को नहीं जानता, वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है।

पिण्ड सिद्धि अथवा सिद्धदेह की प्राप्ति के लिये सिद्ध सम्प्रदाय में हठयोग को प्रधानता दी गई है। हठयोग में प्राणायाम प्रधान रहता है। हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। मन्त्रयोग और लययोग में भी हठयोग सहायक है। इसके अभ्यास में प्रारम्भिक साधकों के लिये सिद्धों द्वारा संयम का विधान किया गया है। घेरण्ड संहिता, हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रंथो में आहार, अपथ्य, पथ्य, भोजन आदि से संबद्ध संयमों का उपदेश किया गया है। साथ ही योगाभ्यास के प्रतिबन्धकों के विवरण में अत्याहार, परिश्रम, प्रजल्पन [बहुभाषण], यम ग्रहण [यथा फलाहारादि का नियम ग्रहण], जनसंगम चंचलता आदि छह की गणना की गयी है। साधकों में उत्साह साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जनसंग-परित्याग आदि का विधान किया गया है। यम में मिताहार को और नियम में अहिंसा को मुख्य माना गया है।[3]

१. नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, लेखक डॉ० ना. उपाध्याय, पृ० २७३।
२. नाथ और संत साहित्य, पृ० २७०-२७१।
३. हठयोग प्रदीपिका १.५७-६३, १.१५, १६, १.३८, ४०।

'हठयोग' शब्द की विभिन्न व्याख्यायें मिलती हैं,

यथा-

ह+ठ+योग = सूर्य+चन्द्र+योग

ह+ठ+योग = प्राण+अपान+योग

ह+ठ+योग = दक्षिण+वाम+योग

ह+ठ+योग = यमुना+गंगा+योग

ह+ठ+योग = पिंगला+इडा+योग

ह+ठ+योग = रजस+रेतस्+योग[१]

सिद्ध सम्प्रदाय को षडंग योग माना जाता है क्योंकि इसमें पतञ्जलि विहित अष्ट योगांगों मे से बाद के छः अंग स्वीकृत हैं यम नियम को सामान्यतया अनिवार्य समझकर छोड़ दिया गया है। आसन सिद्धि के बाद प्राणायाम के अभ्यास का विधान है। इस प्राणायाम का नाड़ी शोधन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राणायाम के चार लक्षण हैं- रेचक, पूरक, कुम्भक ओर संघट्टीकरण।[२] प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाये तो घंटा वाद्यादिकों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं तथा सिद्धि की प्राप्ति की सम्भावना होती है।[३] इसमें नादानुसन्धान सिद्ध होता है आसन और प्राणायाम के पूर्णाभ्यास मे सम्पन्न होकर धारणा का अभ्यास करने का विधान किया गया है।[४] गोरक्षसंहिता, योगबीज आदि ग्रंथों में प्राणायाम के साथ मुद्रा, बन्ध, वेध का भी वर्णन है। प्राणायाम में ओंकारसाधन तथा अजपाजप दोनों अन्तर्भूत हैं। ऊँकार की प्रतीकात्मक व्याख्या की गयी है तथा सिद्धाचार्यों ने प्रणव को वेद का सार ही नहीं वेद ही माना है। यही शिवशक्ति साधन है यह अनाहत और अखण्ड है। इसका अनुसन्धान ही नादानुसन्धान है। यह नादब्रह्म है।

---

१. हठयोग प्रदीपिका १.१ तथा उसकी टीका, वही ३.१५ तथा उसकी टीका योग बीजम् १. ८३-९०, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १०३।

२. सि.सि. प, पृ० २.३५।

३. गो.सं. २.१८-२०, योगमार्त्तण्ड १०८।

४. गोरक्षसंहिता, २.२१, ५२।

सिद्ध सिद्धान्त पद्धति आदि सिद्ध ग्रंथो में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि आदि की पर्याप्त चर्चा हुयी है, इन सबकी चर्चा पृथक् प्रकरणों में की जा चुकी है। ऊपर षडंगयोग की चर्चा की गई इसके दो उद्‌देश्य बताए गये हैं। प्रथम गौण उद्‌देश्य है सिद्धदेह या दिव्य देह की प्राप्ति अथवा जीवनमुक्ति। दूसरा मुख्य उद्‌देश्य है द्वैताद्वैतविवर्जित नाथ रूप में अवस्थान अथवा पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण। इसके लिये हठयोग के साथ ही लययोग भी साधन माना गया हैं शब्दब्रह्म कुण्डलिनी के शरीर में पञ्चभूतों का लय होने के कारण तथा अन्ततः सहस्रार में परमशिव से लय प्राप्त होने के कारण ही इसे लययोग कहा जाता है। कुण्डलिनीसाधन भूतलय और भूतजय दोनों हैं।

कुण्डलिनी की मूलाधार से सहस्रार तक की यात्रा आध्यात्मिक यात्रा है। इसी प्रकरण में षट् चक्र विचार भी आता है। कहीं कहीं नव चक्रों का उल्लेख हुआ है।[१] वे हैं- ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान नाभिचक्र, हृदयचक्र, कंठचक्र तालूचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्र, निर्वाणचक्र, और आकाशचक्र। अंतिम षोडशदल में पूर्णगिरीपीठ की स्थिति मानी गयी है। गोरक्षसंहिता तथा योगमार्तण्ड में सात चक्रों के वर्णन मिलते हैं वे हैं- आधार [४ दल], स्वाधिष्ठान [६ दल], नाभिचक्र अथवा मणिपुर [१०दल], हृदय अथवा अनाहात चक्र [१२ दल], कंठस्थ विशुद्धि चक्र [१६ दल], भ्रूमध्य आज्ञा चक्र [२ दल] तथा सहस्त्रदल कमल, विख्यात ब्रह्मरन्ध्र महापथ है[२]।

कुण्डलिनी भी तीन प्रकार की बताई गई है-

> ऊर्ध्वशक्ति निपाताच्च तथाधः शक्तिनिकुञ्चनात्।
> मध्यशक्ति प्रबोधेन जायते परमं सुखम्।।[३]

यथार्थ में तो यह शक्ति एक ही है किन्तु प्रभेदमात्र से वह तीन रूपों में दिखाई देती है इसके स्वरूप के विषय में कहा जाता है कि कंद

---

१. शि.सि., पृ० २/१-९।

२. गो.स. १.१५-१६।

३. अमरौघशासनम्, पृ० १।

के ऊपर आठ कुण्डली [अधिकतर ढाई लपेटों की बात है] को धारण करने वाली यह कुण्डलिनी शक्ति निरामय ब्रह्मद्वार को जाने वाले मार्ग के रन्ध्र को सुखपूर्वक आच्छादित किये हुए प्रसुप्त रहती है। उसको अनेक योग क्रियाओं से प्रबुद्ध किया जाता है तब वह सीधी होकर पद्म तन्तुनिभा कुण्डलिनी सुषुम्ना मार्ग से उत्थित होती है।[१] आज्ञा चक्र शिव का स्थान है उसमें पहुँच कर शक्ति का शिव से संगम होता है।

पञ्चमकार साधना :

तान्त्रिक सिद्धों का एक बहुचर्चित विषय है-पञ्चमकार साधना। वामाचारी बौद्ध एवं कौल आदि तान्त्रिकों की इस साधना को लेकर समाज में भ्रम की स्थिति रही है इस साधना की आड़ में तान्त्रिक सम्प्रदायों में अनेक विद्रूपतायें एवं दुराचरण प्रविष्ट भी हो गये और समाज इन मतों के प्रति न केवल उपेक्षाभाव अपितु वितृष्णा से भी संवलित होता गया।

तन्त्र के मूल ग्रंथों-कैवल्य तंत्र रुद्रयामल कुलार्णवतन्त्रादि-का अवलोकन करने पर इस साधना का मर्म भिन्न प्रकार का समझ में आता है। पञ्चमकारके पाँच तत्व हैं-मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। पूजा में यथा विधि मंत्र तथा विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा इनका शोधन एवं देवी को निवेदन करके इनके ग्रहण का विधान है शास्त्रों में अनेकशः उल्लेख है कि अजितेन्द्रिय एवं अनधिकारी व्यक्ति आचार भ्रष्ट हो सकता है और ऐसे आडम्बरी साधकों के द्वारा साधना के नाम पर भोगलिप्सा की तृप्ति हेतु इन पञ्चमकारों का सेवन किये जाने के कारण ही उक्त साधना हेय मानी गई है। इन्हें 'कुलसाधन' भी कहा जाता है क्योंकि कौलमत में इस साधना का विधान है। कुलार्णवतन्त्र में स्पष्ट कहा गया है। कि-

कृपाणधारागमनात् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात्।
भुंजग धारणान्नूनमशक्यं कुलसाधनम्।।

---

१. गो.सं. १.४२-५१, यो.मा. ३१-४०।

अर्थात् उद्यत कृपाण की धार पर चलना सहज हो सकता है, व्याघ्र के कण्ठ का आलिंगन अथवा सर्प के फण पर हस्तक्षेपण भी इतना कठिन नहीं जितनी कि कुल अथवा पञ्चमकारों की साधना कठिन है।

पञ्चमकारों मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन में भी प्रथम और अंतिम विशेषेण व्यभिचार कारक हैं इसका कारण है कि-अजितेन्द्रिय और अनधिकारी व्यक्ति आचार भ्रष्ट होकर मात्रा ज्ञान खो बैठता है। तंत्र में बार बार सावधान किया है कि निर्विकल्प और निर्विकार न होने से कुलपथ में मद्य और मैथुन सेव्य नहीं है। मति शुद्ध होने पर ही कुलद्रव्य अर्थात् मद्यादि का सेवन करना चाहिये अन्यथा पतन होता है। इतना ही नहीं निर्विकार और निर्विकल्प चित्त से ही इनका सेवन करने पर भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है।[१] इन्द्रियतृप्ति के लिये इनका सेवन नकरगामी बनाता है। कलियुग का जीव दुर्बलचित्त होने के कारण वह नारी को शान्तिस्वरूपिणी भाव से ग्रहण नहीं कर पायेगा। कैबल्यतन्त्र में सदाशिव ने पार्वती को दिये उपदेश में कहा कि मैथुन की जगह दुग्ध, शर्करा और मधु मिश्रित करके इष्ट को निवेदित करना चाहिये।

रुद्रयामल में उक्त कौलसाधना का मर्म इस प्रकार समझाया गया है-वाम भाग में सुन्दरी युवती, मुख में मदिरा, हाथ में पान पात्र मस्तक में श्री गुरु चिन्तन, मन में भगवती का ध्यान, जिह्वा में मन्त्रजप-कौल साधना में जिनकी ऐसी परिणति होती हैं, वे सुरस पान करते हैं, भोग, मोक्ष उनके करायत्त होते हैं।[२] इसका कारण यह है कि चित्तविकार के

---

१. कुलद्रव्यं सिषेवेत यदि स्वत्वाधिका मतिः।
अन्यथा सेवनं देवि! पतनायैव कल्पयते।।
निर्विकारेण देवेशि! निर्विकल्पेन चेतसा।
सेव्यमानं कुलं भद्रे भुक्ति मुक्ति प्रदायकम्।
सविकल्पो महेशानि रौरवं याति निश्चितम्।। कैवल्यतन्त्र

२. वामे चन्द्रमुखी मुखे च मदिरा पात्रं कराम्भोरुहे,
मूर्द्धनि श्री गुरुचिन्तनं भगवती ध्यानास्पदं मानसम्।
जिह्वायाम् जपसाधनं परिणति कौल क्रमाभ्यागमो
येषां वै नियतं पिबन्तु सुरसं ते भुक्ति मुक्तिं गता।। -रुद्रयामलतन्त्र

इतने कारण उपस्थित होने पर भी जिन साधकों का चित्त देवता के ध्यान में ही आसक्त रहता है, वे स्थिर चित्त हैं और वे ही भैरवी चक्र के अधिकारी होते हैं। इस साधना के लिये अजितेन्द्रियों का अधिकार नहीं होता है क्योंकि कौलमार्ग मुक्ति मार्ग का अन्तिम सोपान है-

इस प्रकार विधान करने वाला तन्त्र किस प्रकार दोषी माना जा सकता है?

आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है। आनन्द आत्मतत्व के साथ देह में भी अवस्थित है। पञ्चमकार उसी आनन्द के अभिव्यञ्जक हैं। इसलिये इनके द्वारा देवी की पूजा का विधान है। शिवशक्ति सामरस्य ही आनन्द की पराकाष्ठा है। आगम में पञ्चमकार की साधना ब्राह्म और आन्तरिक दो प्रकार की है। ब्राह्मसाधना को उपरि दृष्ट रुद्रयामलतन्त्र के वर्णन में समझा जा सकता है। आन्तर साधना का शास्त्रों में वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।-

१. मद्य साधना-

सोमधारा क्षरेत् यातु ब्रह्मरंध्रात् वरानने।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाघकः॥

वस्तुतः ब्रह्मरन्ध्र से क्षरित होने वाली सुधाधारा ही जिसे सोमरस भी कहा गया है- साधना में प्राप्त होने वाला मद्य होता है। उसका पान करके साधक आनन्दमय हो जाता है- मद्यप की भाँति अपने आप झूमता हुआ नशे का सा अनुभव करता है इसी का नाम मद्यसाधना है।

२. मांस साधना-

म शब्दाद्रसना गेया तदन्शान् रसनप्रिये।
सदा यो भक्षयेत देवी स एव मांससाधकः॥

'म' शब्द जिह्वा का बोधक है, उसके अंश हैं उससे निकले वाक्य

अथवा शब्द इन वाक्यों [वाणी] का भक्षण करना ही मांसभक्षण है और वाणी पर संयम रखने वाले अर्थात् मौनी ही मांससाधक हैं।

३. **मत्स्यसाधना-**

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यो भक्षयेत् यस्तु सा भवेत् मत्स्य साधकः॥

गंगा और यमुना के मध्य दो मछलियाँ चलती हैं अर्थात् वाम नासिका स्थित नाड़ी गंगा और दक्षिण नासा स्थित नाड़ी यमुना अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ी द्वय के मध्य प्रवाहित श्वास-प्रश्वास वायु को मत्स्य कहते हैं। इस श्वास प्रश्वास को प्राणायाम के द्वारा रुद्ध करके जो मन को निश्चल करते हैं वे मत्स्य साधक हैं।

४. **मुद्रा साधन-**

सहस्रार कमल की कर्णिका के अन्तर्गत परमात्म तत्व निवास करता है। इस केवल स्वरूप, पारद की उपमा वाले परमात्मा के स्वरूप ज्ञान को प्राप्त करने वाला ही मुद्रासाधक कहलाता है-

'सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलः पारदोपमः।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधकं उच्यते।'

५. **मैथुन तत्वः-**

मैथुन तत्व सृष्टि स्थितिलय का कारण है। आगमसार आदि शास्त्रों में इसे परमतत्व कहा गया है। इससे सिद्धिलाभ होता है और ब्रह्मज्ञान का लाभ होता है। रकार, शक्ति कुण्डलिनी यह देह के मध्य मूलाधार चक्र में अवस्थित है। मकार परमात्म तत्त्व परम शिव का बोधक है- इसका स्थान सहस्त्रदल कमल की कर्णिका में त्रिकोण के मध्य माना गया है। अकार अर्थात् श्वास प्रश्वास द्वारा सम्पादित हंस परक अजपा मन्त्र। रकार कुन्डलिनी शक्ति, अकार रूप हंस में आरोहण करके मकार

रूप सदाशिव सहित मिलित होने पर उनके रमण से जो मैथुनानन्द अनुभूत होता है, वही ब्रह्मज्ञान साधना में प्रकृत मैथुनानन्द है।

योगियों ने साधारण अधिकारी के लिये महानिर्वाणतन्त्र का पञ्चमकार प्रवृत्ति का पथ बताया है तथा आगम सार का पञ्चमकार निवृत्ति का पथ।[१] वाञ्छित को पाकर जो होता है वह प्रवृत्ति मार्ग है और चिन्ता करके जो तृप्ति होती है वह निवृत्ति मार्ग हैं काल की शक्ति काली है। तन्त्रमत में काली की साधना न करने तक मनुष्य ईश्वर को पा सकने का अधिकारी नहीं हो सकता है। कुछ साधक प्रत्यक्ष रूप से और कुछ परोक्ष रूप से अर्थात् ध्यानादि से यह साधना करते हैं।

मेरुदण्ड के मध्य में सुषुम्ना नामक नाड़ी है और उसके दोनों ओर इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के नीचे कुण्डलिनी शक्ति है जो ढाई लपेटा लेकर सोई है। जब यह शक्ति जागृत् हो उठती है तब इस नाड़ी के भीतर उठने की चेष्टा करती है। जितना ही यह शक्ति उठती है, योगसाधक को नानाविध अद्‌भुत क्षमता का प्रकाश प्राप्त होता है। [साधक] प्राणायाम की साधना से कुण्डलिनी शक्ति को जगाते हैं और तान्त्रिकगण पञ्चमकार के द्वारा उसे सहज में ही जान सकते हैं। पञ्चमकार साधना योग में पूर्णारूढ़ सदाशिव तुल्य योगी ही समर्थ हैं। यह भी सत्य है कि ऐसे संयत और जितेन्द्रिय अधिकारी साधक विरले ही होते हैं।

साधना के इस क्रम में हठयोग साधना कुण्डलिनी जागरण स्वरूप शिवशक्ति मिलन, लययोग के अतिरिक्त कुछ अन्य साधना विधियों का भी सिद्धों द्वारा विधान किया गया है यथा- अजपाजय, नाद साधना, मुद्रा साधना आदि।

अजपाजय-

आध्यात्मिक कर्मों में जप का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यह अत्यन्त

१. योगतन्त्रसाधना, पृ० ६१।

सरल साधना है माता के गर्भ से भूमि पर आने के समय से लेकर प्रयाण करने तक सारे जीवन में जो स्वाभाविक श्वास की क्रिया चलती है, यही अजपा साधन है यह जागृत् स्वप्न सुषुप्ति सभी समयों में समान रूप से चलती रहती है। सारा जीवन श्वास प्रश्वासमय है। मनुष्य आत्मविस्मृत अवस्था में श्वास प्रश्वास के अधीन रहता है और निरन्तर काल की प्रेरणा से इड़ा पिंगला नामक बाँए और दाँये भाग से संचरण करता है 'हम्' ध्वनि करता हुआ जो श्वास बाहर निकलता है उसका नाम प्रश्वास और 'सः' ध्वनि करता हुआ जो भीतर जाता है उसका नाम श्वास है। 'हंकारेण बर्हियाति सः कारेण विशेत् पुनः।' जीवनिरन्तर श्वास प्रश्वास के बहाने 'हंस' इस मंत्र का जप करता है किन्तु अन्य जीवों से मनुष्य में भेद यह है कि मनुष्य अपने पौरुष द्वारा ऐसी सामर्थ्य अर्जित कर सकता है, जिससे श्वास प्रश्वास ही इस स्वाभाविक गति में विपर्यय हो सकें अर्थात् साधना के बल पर 'हंसः' गति को सोऽहम् गति में परिवर्तित कर सकता है। तब आत्म ज्ञान का पथ खुलता है और इड़ा पिंगला में संचार करने वाले वायु की वक्रगति सुषुम्ना की सरलगति के रूप में बदल जाती है। सुषुम्ना ब्रह्म मार्ग हैं वायु इड़ा और पिंगला के मार्ग से हटकर जितना ही सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है उतना ही विकल्प का शमन होता है। निर्विकल्प आत्मज्ञान का बन्द मार्ग धीरे धीरे खुलने लगता है। यही साधक के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का साधन है। इसके बिना वायु और मन की ऊर्ध्व गति नहीं हो सकती और ऊर्ध्वगति के बिना विकार का त्याग कर चित्त साम्य भाव में नहीं पहुँच सकता। इसी ऊर्ध्व गति से कुम्भक की सिद्धि होती है प्राणों की बाह्य गति की निवृत्ति इस साधन का उद्देश्य है। प्राणों की बाह्य गति की न्यूनता होते ही अलौकिक शक्तियों का विकास होता है। प्राणों में शान्ति आना आरम्भ होने पर चित्त में निष्काम भाव प्रकट होता है। उसके बाद आनन्द की अभिव्यक्ति होने लगती है।

इस साधना में बड़ा भारी काम यह है कि साधक कुछ न करें, केवल अपने श्वास प्रश्वास की गति का निरीक्षण करता रहे। इसमें

रहस्य यह है कि हम लोग स्वाभाविक नियमानुसार श्वास नहीं ले पाते हैं। मानसिक उद्वेगों के कारण उसकी स्वाभाविक गति में बड़ी बाधा पड़ती है। कहीं अस्वाभाविक रीति से उसकी गति तीव्र हो जाती है तो कहीं शरीर के किसी भाग में रुक जाती है। यहाँ स्वाभाविक रीति से चलने देने का उपाय यही है कि मन को उसके साथ कर दें। उसकी गति में किसी प्रकार का विक्षेप न करें, केवल देखता रहे कि वह किस रास्ते से भीतर आता है और कहाँ जाता है और फिर कैसे लौट कर किस रास्ते से बाहर निकलता है और कहाँ तक बाहर जाता है तथा फिर वहाँ से कैसे खिंचकर भीतर जाता है, अर्थात् साक्षी होकर प्राणवायु का खेल देखें। देखने के लिये भी श्वास प्रश्वास की गति न घटावें न बढ़ावें यदि वह अपने आप घटे या बढ़े तो उसे रोकें भी नहीं। बराबर इस बात का प्रयत्न रखें कि मन श्वास प्रश्वास की गति का साथ छोड़कर हटने न पावे। यदि कोई बात मन में उठे या कोई काल्पनिक दृश्य सामने आ जावे तो उसे हटाने की चेष्टा भी न करें। ध्यान श्वास की गति पर ही बनाये रखें यदि मन वहाँ से हट जाये तो फिर से लाकर वहीं लगा दें।

श्वास के बाहर आने के समय वह ध्यान करें कि वह 'हं' उच्चारण कर रहा है और भीतर जाने के समय सोचे कि 'सः' का उच्चारण हो रहा है गति देखने का प्रयत्न ही इस साधना का मूल है। पहले तो रास्ते का पता ही नहीं चलता है कि वह किधर से होकर भीतर जाता है और किस रास्ते से बाहर जाता है फिर भी घबड़ा कर क्रिया न छोड़ दे बराबर देखने का प्रयत्न करता रहे। ऐसा करने पर दस पाँच दिनों में उसे ऐसे रास्ते से आता जाता मालूम होगा जो कि सर्वथा असम्भव है पर इसमें कभी घबड़ाने की बात नहीं है उन असम्भव रास्तों से चलते हुए को ही देखता रहे। कभी श्वास का वेग बढ़ जाये तो उसे रोकने का भी प्रयत्न न करें। धीरे धीरे उसे ठीक रास्ते से चलता हुआ मालूम पड़ने लगेगा इस बात से भी उसे प्रयोजन नहीं, उसे केवल गति निरीक्षण से प्रयोजन है।

आरम्भ में आधे घन्टे की साधना करें और धीरे धीरे बढ़ाता जाये जब अभ्यास एक घन्टा का हो जाये तो एक घन्टा बैठकर अभ्यास करने के बाद शवासन से लेट जाये और अभ्यास करता रहे। एक घन्टे तक तो उसके सामने मनोराज्य के काल्पनिक दृश्य आते जायेंगे। उसके बाद ऐसे दृश्य का आना बन्द हो जाता है। इसके बाद जो कुछ भी दिखाई पड़े या अनुभव हो, उस पर ध्यान देकर काम करता रहे। इस अभ्यास में यदि हाथ पैर इधर उधर गिर जायें तो फिर ठीक कर लेना चाहिये। इस प्रकार के विक्षेप से कोई हानि नहीं होगी। किसी अवस्था में भी न घबराये केवल प्रभु पर विश्वास के साथ अभ्यास करता चला जाये और वह यह कि श्वास की गति देखने में अन्तर न पड़ने पाये। यदि वह खेचरी मुद्रा जानता हो तो इस साधन में बड़ी सहायता मिलती है। इसमें कभी कभी निद्रा भी लग जाती है और नये साधक को यह निश्चय करना कठिन होता है कि वह निद्रा है अथवा समाधि।

नाद साधना-

जीव की प्राणवायु श्वास प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इडा पिंगला के मार्ग से चल रही है, उसका सुषुम्ना मार्ग प्राय: बन्द है इसलिये उसकी इन्द्रियाँ और चित्त बहिर्मुख हैं, जगत् के अन्तस्थल में आकाशमण्डल में जो अखण्ड नाद निरन्तर ध्वनित हो रहा है। उसे वह चित्त और प्राणों की विक्षिप्तता के कारण सुन नहीं पाता, परन्तु जिस समय गुरु कृपा से तथा क्रियाविशेष के द्वारा सुषुम्ना मार्ग उन्मुक्त होता है। उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्था प्राप्त करके उसमें प्रविष्ट होता है, और उस शून्य पथ में मन अनाहत ध्वनि का श्रवण करता है। निरन्तर ध्वनि का अनुसरण करते करते मन क्रमश: निर्मल एवं शान्त अवस्था को प्राप्त करता है। मन जब पूर्णत: स्थिर हो जाता है तब फिर नाद ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होकर बाह्य प्रकृति के स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मूलाधार से नाद का उठना आरम्भ होता है और सहस्रार में जाकर लीन

हो जाता है। साधक का मन इस नाद के साथ युक्त होने पर अनायास परब्रह्म पद तक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्य के अन्दर अपने आपको मिला देता है। यह नाद साधना अन्तर्मुखी साधना है और बिना सद्गुरु के अप्राप्य है। यह सन्त समाज की साधना का बड़ा भारी भाग है। इसका अभ्यास करने के लिये गुरु के दीक्षा उपदेश के अनुसार क्रिया करने का विधान है नित्य का अभ्यास करने के लिये प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर एकान्त स्थान पर बैठकर अथवा शवासन में लेट कर हाथ के दोनों अंगूठों से दोनों कान बंद करना चाहिये। अपने ही घट में शब्द सुनायी पड़ना शुरु हो जायेगा। अपनी दांयी ओर के शब्दों को सुनना चाहिये। बायीं और के शब्द माया के माने गये हैं, अतः त्याज्य हैं। ये नाद दस है। विराट् में दस मण्डल हैं प्रत्येक मण्डल अपना अपना शब्द रखता है,

मण्डल	शब्द	ध्वनि
१. संहारकदेवलोक	..	पायजेब की झंकार सी
२. पालक देवलोक	..	समुद्र की लहर सी
३. सृजक देव का लोक	..	मृदंग सी
४. सहस्रदल कमल	..	शंख सी
५. आनन्द मण्डल	..	तुरही सी
६. चिदानन्द मण्डल	..	मुरली सी
७. सच्चिदानन्द मण्डल	..	बीन सी
८. अखण्ड अर्द्धमात्रा मण्डल	..	सिंह गर्जन सी
९. अगम मण्डल	..	नफरी सी
१०. अलख मण्डल	..	बुलबुल सी

इसके विषय में बताया गया है कि अगर मरते समय किसी नाद को पकड़ लिया जाये तो मृतक की आत्मा उसी मण्डल में जा पहुंचेगी। जहाँ से वह शब्द आ रहा है, किन्तु इस साधना प्रणाली द्वारा पापपुण्य

के चक्र से सुरक्षित नहीं है। जब उसका पुण्य समाप्त होगा पुनः पृथ्वी पर पाप भोग के लिये अवतरण होगा।

योग शास्त्र के प्रवर्तक सदाशिव ने मन के लय होने के अनेक साधन बतलाये हैं, उन सबसें नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है, वह परमपद में स्थित कराता है। प्राणवायु और मन दोनों परमपद में लय प्राप्त करते हैं।

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरी समा मुद्रा न नादसदृशो लयः।।[१]

नाद के दस प्रकारों का ऊपर उल्लेख किया है उनमें से अभ्यास करते करते जब दसवां नाद जिसे मेघगर्जन तुल्य भी बताया गया है, प्रकट हो तब नौ नादों को छोड़कर दसवां नाद ही सुनते रहना चाहिये। दसवें नाद की पक्व अवस्था में प्राणवायु और मन दोनों ही लय हो जायेगें। ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना के भीतर प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद प्रकट होना आरम्भ होता है, इसे दक्षिण कान से सुनते जाना चाहिये। अभ्यास बढ़ने पर कुण्डलिनी शक्ति जागृत् होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है। जीव दशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होता है। कुण्डलिनी जागृत् होकर ब्रह्मग्रंथि और रुद्रग्रन्थि को भेद कर अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाती है।

साधना के क्षणों में विश्राम :

यह सर्वमान्य तथ्य है कि परिवर्तन से थकान दूर होती है। कार्य अथवा अभ्यास का विषय बदल देने से थकित अंगों को विश्राम मिल जाता है नवीन स्फूर्ति आ जाती है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी के द्वारा उनके निबंध 'चिन्तन के क्षणों में' में विश्राम की विधि बताई गई है। कविराज जी ने 'शतपथ ब्राह्मण' के आधार पर इसका उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है- मुंह बन्द कर लीजिये। नीचे ऊपर की दांतों की पंक्तियाँ न मिलें। जिह्वाग्र को ऊपर उठा लीजिये बस इतना ध्यान रहे

---

१. शिव संहिता।

कि जिह्वाग्र ऊपर तालु और नीचे अपने आधार का स्पर्श न करें। यदि जिह्वा पांच मिनट इस अवस्था में रखी जा सकें तो कई घन्टों का श्रम स्वत: दूर हो जायेगा।[१]

इसका विज्ञान इस प्रकार समझा जा सकता है कि शब्द से ही भिन्न भावों का उदय होता है। तालु 'उत्तरारणि है आधार देश अधरारणि है। जिह्वामन्थन काष्ठ है, इससे वाम अग्नि उत्पन्न होती है। जिह्वा स्थिर होने पर शब्द और भाव की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। मन जिह्वाग्र में स्थिर हो जाता है और सारी थकान दूर हो जाती है।

गुरु-तत्व :

सिद्धसम्प्रदाय में सिद्ध गुरु का अति विशिष्ट स्थान है। यों तो प्रत्येक पंथ गुरु की महिमा के समक्ष नतमस्तक है किन्तु सिद्धमत तो गुरु के गुरुतत्त्व पर ही निर्भर है। परमतत्त्व की प्राप्ति इस मत में लक्ष्य मानी गयी है इसके लिये श्रीगुरु के उपदेश के पालन से ही जीव और जगत् का कल्याण सम्भव हैं। सद्‌गुरु का कृपा पात्र बनना आवश्यक है, यही परमपद प्राप्ति का आधार है। पहले आधार का निर्माण होना चाहिये। पता नहीं किस अज्ञात क्षण में अनन्त का द्वार खुल जाये। कृपा जब चाहे तब आये पर उसके लिये सर्वदा उन्मुख रहना चाहिये। आध्यात्मिक जगत् बड़ा ही रहस्यमय है। इस रहस्य का भेदन करना लौकिक बुद्धि अथवा विचार शक्ति के बाहर की बात है किन्तु श्रीगुरु रूपी महाशक्ति की कृपा पाने पर इस दुभेद्य रहस्य को सरल बनाया जा सकता है। अज्ञान के आवरण को हटाकर तत्त्वज्ञान का स्फुरण गुरुपदेश से ही सम्भव होता है। सिद्ध गोरक्षनाथ द्वारा रचित 'अमनस्कयोग' में गुरुप्रसाद से ही तत्त्वज्ञान प्रकाशित होने की बात कही गई है।[२] इसलिये गुरुदेव से श्रेष्ठ कोई नहीं है वे ही सदैव परमपूज्य हैं।[३] सिद्ध पुरुष सहज

१. योगतन्त्र साधना, पृ० ९४।

२. शुद्धाम्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरुसेवया।
गुरु प्रसादात्तत्रैव तत्त्वज्ञानं प्रकाशते।। अमनस्क. २/११३

३. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरु र्देवो महेश्वरः।
गुरुदेवात्परं नास्ति तस्मात्तं पूजयेत्सदा।। अम. २/४४

साधनों का आश्रय ग्रहण कर परमपद से ही सम्भव होती है। वे अपनी करुणामयी दृष्टि से साधक के बन्धनों को काट कर उसे परम पद में प्रतिष्ठित कर देते हैं। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में उल्लेख है-

करुणाखण्डपातेनच्छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्द जनकः सदगुरुः सोऽभिधीयते॥
निमिषार्धार्धपाताद्वा यद् वा पादावलोकनात्।
स्वात्मानं स्थिरमाद्यन्ते तस्मै श्री गुरवे नमः॥[१]

गुरु की कृपा के अभाव में चित्त विश्रान्ति लाभ नहीं कर पाता है। विशेषकर अमनस्क साधना सिद्धि पाने के लिये गुरु कृपा अत्यावश्यक होती है। उन्मनी समाधि में जीवात्मा की परमपद में प्रतिष्ठा उसकी पूर्ण चिन्मयता है और यह चिन्मयता गुरुदेव के सान्निध्य में साधना करने से प्राप्त होती है।

श्री गुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्द विग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः॥[२]

सदगुरु की कृपा न होगी तो साधक सहजावस्था को कैसे प्राप्त कर पायेगा? 'दुर्लभा सहजावस्था सदगुरोः करुणां विना।' यह सहजावस्था प्राप्ति में इतनी सहज नहीं होती। इसके आगमन से वायु [प्राण] तत्क्षण शान्त हो जाता है और फिर तो चित्त के शान्त हो निरुद्ध होने में देर नहीं लगती ऐसी सहजावस्था की प्राप्ति के लिये गुरु ही सेव्य हैं।[३] ऐसे सहजानन्द प्रदाता गुरुदेव के लिये अनेक बार प्रणाम निवेदित किये गये हैं।

नमोऽस्तु गुरवेतुभ्यं सहजानन्द रूपिणे।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति संसार मोहनामयम्॥[४]

---

१. सि.सि पृ० ५/६८, ६९।

२. गोरक्षशतक-१।

३. यस्मिन्नभ्युदितं विनश्यति बली वायुः स्वयं तत्क्षणात्।
प्राप्यैतत्सहजं स्वभावमनिशं सेवध्वमेकं गुरुम्॥ अम. २/४३

४. अमनस्कयोग- २/२०।

ऐसे गुरु की प्राप्ति सहज नहीं अनेकानेक जन्मों के सुकृतों का ही परिणाम होती है। यों तो संसार गुरुओं से भरा पड़ा है किन्तु उनमें कौन गुरुपद योग्य है और पाखण्ड? यह एक कठिन प्रश्न साधक के समक्ष उपस्थित होता है गुरु शिष्य का सम्बन्ध आमुक्ति होता है। अतः गुरु के लिये शिष्य का चयन और शिष्य के लिये गुरु का चयन कठिन कार्य होता है। योग के ग्रंथों में योग्य गुरु के अनेक लक्षण बताये गये हैं और साधक को बड़ी सावधानी से गुरु बनाने की सलाह दी गयी है।

कुछ पहचान इस प्रकार होती है-

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना निमेषाद्
वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।[१]

सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के पञ्चमोपदेश में पिण्ड और परमपद के समरसीकरण प्रसंग में इस विषय पर पर्याप्त चर्चा हुयी है यह परमपद स्वसंवेद्य बताया गया है, वाग्मी गुरु ही वहाँ तक ले जाता है।[२] गुरु ही परमपद का सन्मार्ग प्रशस्त करने वाला है वह सन्मार्ग है-योगमार्ग, उससे इतर पाषंड़ मार्ग बताये गये हैं।[३] गुरुदेव के दिखाने से ही यह परमपद साक्षात् स्वसंवेद्य हो जाता है। अतः गुरु ही उसकी प्राप्ति के कारण हैं।[४] उन्हीं का कटाक्षपात् कृतकृत्य करता है।[५] सहज अद्वैत पद एक मात्र गुरु कृपा से प्राप्य है- ऐसे गुरु की महिमा अपार है।

---

१. अमनस्कयोग-२/४५,४६।
२. सि.सि.पं. ५/३।
३. वही ५/५।
४. यस्मिन् दर्शिते सति तत्क्षणात्।
स्वसंवेद्यसाक्षात्कारः समुत्पद्यते। ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते। सि.सि.प. ५/६
५. सि.सि.पं. ५/७।

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रात् नान्यथा शास्त्रकोटिभिः।
न तर्कशब्द विज्ञानान्नाचाराद्वेदपाठानात्।।[१]

जो परमपद शास्त्रज्ञान, वेदपाठ, मन्त्रजप, तर्कवितर्क आदि किसी उपाय से प्राप्त नहीं हो पाता वह गुरुपदेश से सहज ही संभव हो जाता है और उनके उपदिष्ट साधनों का अभ्यास करते करते साधक अनन्त सिद्धियों को प्राप्त करता जाता है-बारह वर्ष में तो वह शिव तुल्य कर्ता और हर्ता बनकर त्रैलोक्य में पूज्य हो जाता है।

त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धसत्त्वः श्रीभैरवो यथा।
एवं द्वादशवर्षेषु सिद्धयोगी महाबलः।।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः।।[२]

इसी प्रसंग में आगे और भी स्पष्ट किया गया है! वस्तुतः साधक के लिये आचार स्वरूप अनेक नियम निर्धारित हैं। यथा मुद्रा-धारण, विरक्ति, देह को क्लेश सहन कराने वाले तप, जप, यज्ञ, तीर्थ सेवन, देवार्चन आश्रमधर्म का पालन षड्दर्शन ज्ञान, केशधारण अथवा मुण्डन इत्यादि इन दैहिक साधनों का परित्याग करने के बाद ही अदैहिक परमपद में सिद्धपुरुषों की स्थिति होती है वह गुरु कृपा कटाक्ष का ही फल है ऐसा कहा है-

तत्कथं? गुरुदृक्पातात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सा स्थितिर्जायते।।

कथनात्शक्तिपाताद्वा पदावलोकनात्।
प्रसादात् स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमंपदम्।।[३]

ऐसे महान् गुरु से बड़ा कौन हो सकता है? जन्मजन्मान्तरों के कष्ट

---

१. सि.सि.प. ५/३१।
२. वही ५/४२।
३. वही ५/६१.६२।

मिटाकर चिरभिलषित मुक्ति अथवा परमपद प्राप्त कराने वाले गुरु की महिमा अपार है उससे अधिक कोई नहीं है।[१]

नाथ सिद्धों की बानियाँ में योगिभर्तृहरिनाथ ने लिखा है-

गुरसूं ग्यान ग्यान सूं बुधि भई।

बुधि सूं अकल प्रकासी।

भनंत भरथरी हरिपद परस्या सहज भया अविनासी।[२]

अर्थात् भर्तृहरि गुरु कृपा से ही सद्ज्ञान पाकर हरिपद तक पहुंच कर स्वयं अविनाशी स्वरूप में स्थित हो पाये।

प्रश्न उठता है कि गुरु उस परमज्ञान को अज्ञानी शिष्य में कैसे भर देते हैं कि वह स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है? वस्तुतः प्रत्येक देह में विराजमान आत्मतत्व एक है वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है उसे बाहर से ज्ञान पाने की आवश्यकता नहीं। अपने ज्ञान प्रकाश पर पड़े अज्ञानान्धकार को मिटाने की आवश्यकता होती है। दीक्षा के समय ही जब गुरु शिष्य को स्वीकार करते हैं उसके चक्रों में संचित अज्ञान को हटाने के लिये अपना पुण्य स्पर्श प्रदान करते हैं उस प्रभाव से तथा पुनः पुनः गुरु के दृष्टि पात् तथा स्पर्शादि से शनैःशनैः शिष्य के संचित पाप और अज्ञान पाश कटते जाते हैं। गुरुदेव 'श्री' से सम्पन्न होते हैं।[३] श्री शब्द पराशक्ति का वाचक है गुरु यदि शक्तिहीन हुए तो उनके द्वारा जीव या जगत का कल्याण- साधन सम्भव नहीं हो सकता। हठयोग एवं तन्त्रशास्त्रादि सभी में स्वरूपभूता शक्ति के साथ नित्यमिलित गुरु को लक्ष्य करके शास्त्ररहस्य वर्णित हुआ है। अविद्या परमात्मा की मायिक ऐश्वर्य शक्ति है विद्या गुरु की शक्ति की प्रतिष्ठा है। गुरुशक्ति के कारण ही साधक

---

१. न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्।
शिवशासनतः शिवशासनतःशिवशासनतः शिवशासनतः।। सि०सि०प० ५/६३

२. नाथसिद्धों की बानियाँ ६७९।

३. तस्मै श्री गुरवे नमः।

साधना में सिद्धि प्राप्त करके योगारूढ़ हो पाता है। इस गुरुशक्ति का अनुग्रह साधक को क्षणमात्र में सामरस्यात्मक पूर्णत्व के परमपद पर प्रतिष्ठित कर देता है। गुरु की कृपा से शिष्य भी गुरुरूप हो जाता है।

गुरु सिख को एकै करया
परचा होइ तो बिहड़िन जाया।[१]

उन्मनी अवस्था :

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद् वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वद् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्फलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावममलं जातेऽमनस्के ध्रुवम्।।[२]

सिद्धमत में साधना की सिद्धि की पृष्ठभूमि में महायोगी गोरखनाथ जी ने मन की अमनस्क अथवा उन्मनी अवस्था पर विशेष बल दिया है। इस अवस्था में कैवल्यस्वरूपिणी ज्योति अथवा अलखनिरञ्जन के साक्षात्कार की अनुभूति रहती है। सिद्धमत में यह चरम प्रतिपाद्य परमोत्कृष्ट सिद्धान्त है, जो द्वैताद्वैत विवर्जित है। यही नाथ योग का गुह्यतम मर्म है। शून्य निरंजन परमपद, परमशिव ही निरंजन है और यही परमात्मा है।

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।

इस परमपद की प्रतिष्ठा मन की उन्मनी स्थिति में है। यह अमनस्कयोग साधना का परम निगूढ रहस्य है अमनस्कता की सिद्धि ही, नाथयोग का सनातन, अमृतस्रोत है, जो अनन्त है, अकाल है, अनादि है, अस्ति नास्ति दोनों अवस्थाओं से विलक्षण अथवा विवर्जित स्वसंवेद्यतत्त्व है।

योग साधना की सिद्धि हेतु चित्त की चंचलता पर नियंत्रण विशेषेण आवश्यक है चञ्चल चित्त से प्राणशक्ति पर स्वामित्व नहीं स्थापित

---

१. मच्छीद्रगोरखबोध ७४।
२. अमनस्क योग २/७८।
३. सि.सि.प. १/१७।

किया जा सकता है। इस चञ्चलता का निरोध ही मन की वृत्तियों के निरोधपूर्वक अमनस्क या उन्मनीभाव की उपलब्धि है। नाथयोग में अमनस्कता का तात्पर्य अतिमानसता नहीं है, अतिमानसता प्राण और मन के लय की स्थिति से परे ऊँकारातीत शून्यावस्था ही अमनस्कता का पर्याय है, जिसमें एकमात्र निरञ्जन परमतत्व परमेश्वर ही परिव्याप्त होता है। यही ध्यान की परिपूर्णावस्था है इसी अमनस्कता अथवा ध्यानातीत अवस्था को दृष्टि में रखकर ही कहा गया है-

"निरञ्जन उपरांति ध्यान नाहीं" निरञ्जन तत्व की अपरोक्षानुभूति ही आत्मज्ञान की चरम परिणति है। सहज शून्य में निरंजन मायातीत स्थिति ही अमनस्कयोग की सिद्धि का स्तर है गोरक्षनाथ जी की इस विषय में उक्ति है।

अमृतोद्वीपनी विद्या निरुपाया निरंजना।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।[1]

अमनस्कयोग में दो खण्ड हैं। प्रथम में साधना के स्तर पर बाह्याडम्बर और व्यर्थ की बाह्य साधना के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। आसन, बन्ध, मुद्रा आदि में श्रम को समय का अपव्यय कहा गया है षट्चक्रों का वेधन करके ध्यानक्रिया को चित्त का विभ्रमभाव कहा गया है और अन्ततः अमनस्कता की साधना के ही वरण पर विशेष बल दिया गया है। योगसाधना से प्राप्त अष्ट सिद्धियों को परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार के मार्ग में अश्रेयस्कर बताया गया है। प्राण में मन के और मन में प्राण के लय के द्वारा अजरत्व और अमरत्व को योगाभ्यास का श्रेय कहा गया है। दूसरे खण्ड में तारकयोग और अमनस्कयोग में भेद का निरूपण उपलब्ध होता हैं। इस अमनस्कखण्ड में शाम्भवी मुद्रा के रहस्य और शाम्भवयोग तथा मन के सम्पूर्ण लय अथवा अमनस्कविद्या के स्वरूप का विवेचन किया गया है। ये महाविद्या हैं।

१. अमनस्कयोग २/२१।

योग साधना में मन को पूर्णत: वश में करना सिद्धि है। मन की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। इस मन को योगी उन्मन रखता है, परमात्मचिन्तन के अभिमुख रखता है। मन को शून्यपद ब्रह्मरन्ध्र में स्थित करना ही योग की उन्मनी अवस्था की प्राप्ति कही जाती है। मन के उन्मन होने पर चन्द्रस्राव का पान करने पर पिण्ड में ही स्थित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का तात्त्विक अभिज्ञान योगी की बुद्धि में अभिव्यक्त हो उठता है, वह उनका प्रत्यक्ष दर्शन कर परमात्मस्वरूप के अनुभव से कृतार्थ हो जाता है। यह मन क्या है? इसके विषय में सिद्धमत की मान्यता है कि संकल्प विकल्प ही मन है।[१] मन नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। संकल्प विकल्प के प्रवाह को ही मन कहा जाता हैं और इस प्रवाह में पड़े मानव की योग में समाहित होने पर ही मुक्ति संभव है। संकल्प विकल्प के नाश से ही मनोनाश या मनोलय होता है और यह लयावस्था ही मन की अमनस्कता अथवा उन्मनी अवस्था है। नाथ सिद्धों के अनुसार मनोलय एक अत्यन्त गूढ और रहस्यात्मक साधन प्रक्रिया का मौलिक दृष्टिकोण है। मन की वृत्तियों का लय होने पर ही अञ्जनरहित निरंजनपद की प्रतिष्ठा होती है।[२]

मन तथा बुद्धि से अगोचर शून्य विज्ञानानन्द स्वरूप परमतत्व की अपरोक्षानुभूति के लिये अमनस्कता की साधन सापेक्षता अनिवार्य है। अमनस्कता के स्तर पर तत्व में समाहित होकर योगी तत्त्वाकार हो जाता है। मन की चञ्चलता सर्वमान्य है।[३] उसका निग्रह अत्यन्त दु:साध्य है[४] वह क्षण क्षण में अस्थिर हो जाता है किन्तु मन का निग्रह अत्यावश्यक है। समस्त सृष्टि उसके अधिष्ठाता तथा उसमें जन्म लेने वाले और मरने वाले शरीरधारी जीव सब इस मन के ही स्वरूप, अरूप और रूप हैं।

---

१. संकल्पकमत्र मन:– सां.का. २७ पर युक्ति दीपिका।

२. समदां की लहरयाँ पार जु पाइला।
मनवा की लहरयाँ पार न आवै रै लो।। नाथ सिद्धों की बानियाँ ५८

३. चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलबद् दृढम्। गीता–२

४. असशयं हि महाबाहो मन: दुर्निग्रहं चलम्।

इस मन को न तो रोकना चाहिये और न चञ्चल होने देना चाहिये। जहाँ से मन की चञ्चलता आरम्भ होती है, उसे वहीं वापस ले जाना चाहिये। मन का मूल धर्म स्थिरता है, वह स्थिर होने पर ही सुरक्षित रहता है, स्थिर मन ही उन्मनि अथवा अमनस्क होकर योग साधना को सिद्ध बनाता है।

सिद्ध गोरक्षनाथ जी ने 'अमनस्कयोग' नामक ग्रंथ की रचना कर इसकी महत्ता की पुष्टि की है। उनका उपदेश है कि साधक को किसी भी विषय का चिन्तन न करते हुये सहज स्वरूप में निरञ्जन परमशून्य तत्त्व में समाहित रहना चाहिये। उसे वाणी, मन और शरीर में लेशमात्र भी संक्षोम का अनुभव नहीं करना चाहिये। जब तक संक्षोम है, चिन्तन और संकल्प है तब तक अमनस्क स्थिति की प्राप्ति नहीं हो सकती है और न ही तत्त्वसाक्षात्कार अथवा स्वरूपावस्थिति सम्भव है।[१] निरञ्जन रूपातीत है इसका परिचय ही अमनस्कसाधन सापेक्ष है। जब तक मनोलय की अवस्था नहीं सिद्ध होती तब तक रूपातीत निरञ्जन का साक्षात्कार कल्पनामात्र है। साथ ही अमनस्क योग की साधना भी क्रिया सापेक्ष ही बतायी गयी है।[२] निरन्तर योगाभ्यास से ही मन स्थित और उन्मन होता है। यह अन्तरंग साधना है, बहिरंग साधन, आसन, मुद्रा बन्ध आदि की इसके लिये उतनी आवश्यकता है जितनी योग साधना की दृष्टि से अन्य अभ्यासों में इनकी अपेक्षा न्यूनाधिक स्वीकार की गयी है।

तारकयोग में मन साधना में सहायक है किन्तु अमनस्क साधना में मन की स्थिति उन्मनी हो जाती है, मन तत्त्वाकार होकर महालय को प्राप्त हो जाता हैं असम्प्रज्ञात समाधि और अमनस्क स्थिति दोनों में मनोनाश अथवा मनोलय होता है पर केवल मनोलय से ही परमतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो जाती। यद्यपि मन का लय बहुत आवश्यक प्रक्रिया है

---

१. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। गीता-२

२. अमनस्क योग २/५५, ५७,५८।

३. क्रियायुक्तस्य सिद्धिःस्यादक्रियस्य कथं भवेत्। हठयोग प्र. १/६७

तथापि उस मनोलय का फल सत्य स्वरूप का बोध है जो कि अमनस्क योग की साधना में साध्य है। केवल मनोलय होने पर मन चञ्चल हो सकता है, किन्तु यदि मनोलय ब्रह्मतत्त्व अथवा अलख निरंजन तत्त्व के साक्षात्कार के माध्यम से हो जाता है तो वह सदा स्थिर और अचञ्चल तथा समाधिस्थ रहता है।

हठयोग के साधनस्तर पर समाधि, उन्मनी, लय, परमपद, अद्वय, निरालम्व तथा सहज राजयोग के ही पर्याय स्वीकार किये गये हैं। हठयोग के बहिरंग साधन आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि के परिणामस्वरूप जब तक देह में प्राणशक्ति स्थिर है तथा मन स्थिर और शान्त हैं तथा चक्रध्यान के फलस्वरूप दृष्टि भौहों के मध्य में एकाग्र है, तब तक मृत्यु का भय नहीं है, पर इस काल वंचन के परे की स्थिति में अजरत्व अमरत्व की सिद्धि में अथवा तत्व में प्रतिष्ठा की संस्थिति में अन्तरंग साधना की परम अवस्था अमनस्कता ही सहज सिद्ध है। जब प्राण का प्रवेश सुषुम्ना में हो जाता है और मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तब वही अवस्था मन की अमनस्कता की स्थिति अथवा उन्मनी अवस्था है[१]। यह परमसिद्धि है। 'अमनस्क योग' में सिद्ध गोरक्षनाथ ने कहा कि पञ्चभूत तथा छठे तत्त्व मन को वश में कर लेने पर निरञ्जन [सातवें तत्त्व] का साक्षात्कार ही नहीं होता उस परमात्मसत्ता में मन भी अन्तर्लीन हो जाता है।[२]

सिद्ध सम्प्रदाय में यद्यपि विभिन्न सिद्धों एवं योगाचार्यों ने हठयोग की आवश्यकता पर बल दिया है तथापि अन्तरंग साधना को ही यौगिक सिद्धि अथवा तत्त्वसाक्षात्कार की आधारशिला स्वीकार किया गया है तथा उसकी अन्तिम स्थिति मनोलय की महावस्था या उन्मनी बतायी गयी है। जिस प्रकार लवण जल में घुलकर जल ही हो जाता है वैसे ही मन ब्रह्म

---

१. मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी।। हठयोग प्र. २/४२

२. अमनस्क योग १/२६-२८।

के सम्पर्क से ब्रह्ममय हो जाता है, वह ब्रह्मज्ञान मय होकर निर्वाणपद में प्रतिष्ठित हो जाता हैं।[१] इसकी सिद्धि प्रक्रिया कुछ इस प्रकार बतायी गयी है- जो योगी समस्त चिन्ताओं का त्याग कर मन से कुछ नहीं सोचता है, उसे तत्त्व साक्षात्कार होता है। तत्त्व के सम्मुख होने पर अमनस्कता का उदय होता है इससे चिन्तादि का विलय हो जाता है। चित्त के लय से पवन का लय स्थापित होता है, मन पवन के लय से इन्द्रियार्थ का त्याग हो जाता हैं सर्वसमत्व की अवस्था आती है और सर्वसमत्व के उदय होने पर योग का कार्य व्यापार समाप्त होता है और सुख दुःख शीत उष्ण आदि द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार निर्वात स्थान में दीपक की ज्योति निश्चल हो जाती है।[२] यह चराचर जगत् मन का दृश्य है, मन का उन्मनी भाव होने पर अद्वैतभाव अभिव्यक्त हो जाता है। अमनस्क की साधना अथवा चित्त के अचल होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है।

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चित्तं स्थिरी कुर्यादौदासीन्यपरायणः।।[३]

चित्त के स्थिरीकरण की विधि इस प्रकार निर्दिष्ट की गयी है-

विविक्त देशेसुखसंन्निविष्टः
समासने किञ्चदुपेत्य पश्चात्।
बाहु प्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांग
श्चिन्ताविहीनाऽभ्यसनं कुरुष्व।।[४]

हठयोग प्रदीपिका में उन्मनी सिद्धि के लिये साधन कुछ इस प्रकार बताया गया है कि भ्रुवों को थोड़ा ऊपर करके नेत्र पुतलियों को नासाग्र

---

१. अमनस्कयोग १/४३-४५।

२. यथा दीपे निवातस्थे नेंगते सोपमास्मृता। पा.यो. तथा- निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्चलोयथा। जगद्व्यापार निर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः।। अमनस्क १/३८-४०।

३. अमनस्क २/९३।

४. अमनस्क १/२९।

पर दिखने वाली ज्योति पर स्थिर करके शाम्भवी मुद्रा की भांति मन को ब्रह्म चिन्तन में स्थिर करने से शीघ्र उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है-

तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनोयुञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्॥[१]

सिद्धमत में साधना के अन्तराय :

महामुनि पतञ्जलि ने 'योगसूत्र' में योगसाधना में आने वाले विघ्नों अथवा अन्तरायों का वर्णन किया है वे हैं-

व्याधि, [रोग], स्त्यान [चित्त की अकर्मण्यता], संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व।

वस्तुतः ये केवल योग साधना के ही नहीं अपितु साधनामात्र में अवरोधक होते हैं। अतः सिद्धमत में जिस प्रकार की योग प्रधान साधना विहित है उसके प्रगति पथ में पग पग पर विघ्न उपस्थित करने वाले इन अन्तरायों को समझ लेना अपेक्षित है।

व्याधि :

धातु, रस और इन्द्रियों की विषमता से उत्पन्न ज्वरादिक व्याधि कहलाते हैं। ये शरीर को रुग्ण बनाते हैं और रुग्ण शरीर द्वारा साधना नहीं हो पाती है। धर्म साधना के लिये शरीर प्रथम सोपान होता है- 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।[२]' यह स्वभाव सिद्ध है कि देह के जिस किसी भी अङ्ग में रोग या पीड़ा होती है- रोगी का चित्त वहीं लगा रहता है- शारीरिक अशक्यता के साथ साथ मानसिकता भी कुछ ऐसी हो जाती हैं कि ईश्वर प्रणिधान आदि साधन सम्भव नहीं हो पाते है। औषधि मिताहार आदि व्याधि दूर करने के उपाय हैं।

स्त्यान :

इसका अर्थ है चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् इच्छा होने पर भी किसी कार्य को करने की सामर्थ्य न होना। सामर्थ्य से यहाँ प्रबल इच्छा शक्ति से ही तात्पर्य है। वीरत्वपूर्ण प्रयत्न से स्त्यान हटाया जा सकता है।

---

१. हठ ४-३८।

२. कुमार सम्भव ५/३३।

संशय :

इसे उभय दिक्स्पर्शी विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है। मुझसे यह साधना हो पायेगी अथवा नहीं। इससे सिद्धि प्राप्त होगी अथवा नहीं इस प्रकार दो कोटियों को लेकर चलने वाला ज्ञान संशय होता है। संशय किसी क्षेत्र में हो आगे नहीं बढ़ने देता है- 'संशयात्मा विनश्यति'। साधना के लिये अत्यन्त दृढ़ता और वीरत्व पूर्ण प्रयत्न आवश्यक होते हैं। निःशंक होकर साधना करने पर ही सिद्धि की आशा हो सकती है। शास्त्राध्ययन, मनन तथा संशयहीन उपदेष्टा के सहवास से संशय दूर होता है।

प्रमाद :

साधनों का अनुष्ठान न करना तथा आत्मविस्मृत होकर विषय में लिप्त रहना ही प्रमाद होता है। श्रुति का वचन है- 'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।' महात्मा बुद्ध ने भी अप्रमाद को अमृतपद और प्रमाद को मृत्युपद कहा है।

आलस्यः

कायिक और मानसिक गुरुता के कारण ध्यानादि साधनों में अप्रवृत्ति। कफ़ आदि के प्रकोप से शरीर में तथा तमोगुण के प्राबल्य से चित्त में भारीपन आता है स्त्यान में चित्त अवश होकर इधर उधर धूमता है, अतएव साधन कार्य में उसका प्रयोग नहीं हो पाता है। चैत्तिक आलस्य में चित्त तमोगुण के प्राबल्य से स्तब्धवत् रहता है दोनों में यही भेद है मिताहार, जागरण और उद्यम के द्वारा आलस्य पराजित होता है।

अविरति :

विषयों में तृष्णा बनी रहना अविरति है। विषयेन्द्रिय संयोग से चित्त की विषयों में तृष्णा होने से वैराग्य नहीं हो पाता है। इसे दूर करने के लिये विषयों से हटने अथवा वैषयिक संकल्प को त्यागने का अभ्यास करना चाहिये।

भ्रान्तिदर्शन :

यह मिथ्याज्ञान है। निम्नपद को श्रेष्ठपद तथा श्रेष्ठपद को निम्नपद मानना भ्रान्तिदर्शन है। साधना में ज्योर्तिमय पदार्थ का दर्शन कर कुछ साधक सोचने लगते है कि उन्हें ब्रह्मदर्शन हो गया अथवा कुछ आनन्द पाकर सोचते हैं उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार हुआ है यह सब भ्रान्ति दर्शन के उदाहरण हैं।

ईश्वर तथा गुरु के प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ योगशास्त्र का अध्ययन तथा तदनुसार अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति से भ्रान्ति दर्शन हटता है।

अलब्धभूमिकत्व :

मधुमती आदि योगभूमि की अप्राप्ति ही अलब्ध भूमिकता है। भूमि लाभ करके उसमें स्थित न होना अनवस्थितता है। लब्धभूमि में स्थित होने पर तत्त्वसाक्षात्कार रूप समाधि सिद्ध होनी चाहिये अन्यथा भ्रष्ट होने की आशंका रहती है।

अनवस्थितत्व :

समाधि भूमि को पाकर भी उसमें चित्त का न ठहरना अर्थात् ध्येय का साक्षात् करने से पूर्व ही समाधि का छूट जाना यही अनवस्थितत्त्व है।

ईश्वर प्राणिधान के द्वारा सारे अन्तराय दूर हो जाते हैं क्योंकि जिस अन्तराय का जो प्रतिपक्ष है, ईश्वर प्राणिधान से वह प्रकट होकर उस अन्तराय को दूर भगा देता है। ईश्वर प्रणिधान से बुद्धि सात्विक और निर्मल होती है जिससे अन्तरायाभाव तथा विघ्ननाश के उपाय सिद्ध होते हैं।

महामुनि पतञ्जलि द्वारा वर्णित उक्त अन्तरायों के अतिरिक्त सन्तों ने कुछ और अन्तरायों तथा आध्यात्मिक मार्ग में उनके द्वारा होने वाले

उत्पातों के विवरण दिये हैं। इनकी परिगणना विशेष रूप से पाँच विग्रहों में की जा सकती है। वे हैं- काम, क्रोध, मोह, लोभ और अंहकार। इसमें से प्रत्येक की व्याप्ति और प्रभाव असीम है।

काम :

सारे कष्टों, समस्त विध्नों का मूल काम है जो मिथुन वृत्ति के रूप में जाना जाता है और संग से उत्पन्न होता है, 'संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।[१]'

भारतीय साहित्य में काम के विविध रूप प्राप्त होते हैं। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में हुआ है-

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरबिन्दन हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।[२]

इसके अतिरिक्त अथर्व संहिता, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों में काम के कहीं उल्लेख कहीं विस्तृत वर्णन प्राप्त होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि काम की प्रेरणा से ही प्रजापति के हृदय में सृष्टि रचना की इच्छा उत्पन्न हुई। ऐतरेय उपनिषद् के अन्तर्गत काम को ब्रह्मज्ञान हेतु शक्ति कहा गया है।[३] मुण्डकोपनिषद् में इच्छा शक्ति अथवा कामना[४] और तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्मा के हृदय में सृष्टि उत्पत्ति की कामना उत्पन्न करने वाली प्रेरणा शक्ति के रूप में वर्णन मिलता है।[५] कामसूत्रों का तो यह बहुचर्चित विषय है। वहाँ काम को एक ऐसी प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है, जिसके अभाव में जीवन का कोई भी कार्य सम्पादित नहीं हो सकता।

---

१. भगवद गीता-२/६२।
२. ऋग्वेद १०. १२९.४।
३. ऐतरेय उप. ३.२.२।
४. मुण्डक ३.२.२।
५. तैत्तरीय २.१.६।

महाभारत में काम को बड़े उत्तम रूप में स्मरण किया गया है। वहाँ काम को अद्वितीय और अपराजेय बता कर यह स्वीकार किया गया है कि बिना योगाभ्यास अथवा आत्मसाक्षात्कार के कोई भी उसको नष्ट नहीं कर सकता। शान्तिपर्व में काम के वासनात्मक रूप का भी वर्णन है और गीता में भगवान कृष्ण ने काम के धर्माविरुद्ध रूप को अपना ही रूप बताया है और धर्मविरुद्ध रूप को मानव का सबसे बड़ा शत्रु।

मनुस्मृति में काम के उदात्त रूप की प्रतिष्ठा हुई है। त्रिवर्ग के अन्तर्गत उसे सर्वाधिक श्रेयस्कर बतलाया है। तान्त्रिक साधक दोनों ओष्ठों में से एक को शिव और दूसरे को शक्ति मानते हैं। जप करते समय ओष्ठों का हिलना ही मैथुन है। उससे निकलने वाला शब्द ही बिन्दु है।

काम के सम्बन्ध में प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार समझे जा सकते हैं-

१. काम एक सार्वभौम और सार्वकालिक शक्ति है।

२. मिथुन-भावना में इसका मूल स्रोत परिलक्षित होता है।

३. आदि काली में इसकी प्रतिष्ठा अत्यन्त व्यापक धरातल पर की गई थी, किन्तु कालान्तर में अर्थ संकोच होकर यह केवल यौन सम्बन्धों तक ही सीमित रह गया।

वस्तुत: कामेच्छा के साथ ही मानव की जागतिक अभिलाषाओं का आयाम बढ़ता जाता है अर्थात् वैवाहिक जीवन के प्रारंभ से ही पुत्रैषणा, यश:लिप्सा, वित्तेषणा आदि का प्रसार होता है। मानव जितने विषयों और प्राणियों में स्वयं को आबद्ध करता है, वे ही उसका संसार बन जाते हैं। इन बन्धनों को मानव आनन्द प्राप्ति के लिये स्वीकार करता है, किन्तु यदि वास्तव में देखा जाये तो आनन्द का वास्तविक उद्रेक 'काम' की तृप्ति में नहीं निष्काम होने में है। मिथुनी भाव में नहीं अमिथुनी भाव में है।

क्रोध, लोभ, मोह आदि संवेग काम के ही विवर्त है। काम तुष्टि में बाधा आने से क्रोध उत्पन्न होता है। किसी पसन्द की वस्तु से आकर्षित होकर उसकी प्राप्ति के आर्कषण को लोभ की संज्ञा दी जाती है। वस्तु प्राप्ति के आनन्द में प्रलुब्ध होने के कारण लोभ के मूल में भी 'काम' भाव ही होता है। अधिक सम्पर्क से मोह की उत्पत्ति होती है। सम्पर्क अथवा मिथुनी भाव वास्तव में काम ही है।

इन सब के अतिरिक्त अहंकार के भाव पर सिद्धों ने बहुत बल दिया है। सांख्य दर्शन के अनुसार अभिमान ही अंहकार है। अंहकार के ही कारण विषय की अवस्थिति का ज्ञान होता है। दृश्य को अहंकार के कारण ही देखा जा सकता है। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर ज्ञाता को जो 'ज्ञातृत्व' अभिमान हैं।, उसी को अंहकार माना गया है। अंहकार द्वारा प्रेरित मन संसार के सभी कार्यों को करने में प्रवृत्त होता है। अंहकार के ही कारण वह सक्षम तथा क्रियाशील है, अन्यथा बिल्कुल पंगु है। योगवासिष्ठ में मन को इसीलिये जड़ कहा गया है-

मनश्चैवं जडं मन्ये संकल्पात्मकंशक्ति यत्।
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धि निश्चयैः॥[१]

अस्तु, अंहकार चित्त की वह वृत्ति है, जो चित्त को संसार के विषयों से आबद्ध किये हुए है। जब तक उन विषयों से चित्त की विमुक्ति नहीं होती है, तब तक अहंकार का क्षय नहीं हो सकता और जब तक अंहकार नष्ट नहीं होता, विषय जन्मान्तर को भी विनष्ट कर देतें हैं।

उक्त पाँचों काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार को सिद्धों ने साधना के अन्तराय के रूप में स्वीकार किया है। उनकी धारणा है कि जब तक साधक इन विकारों पर विजय नहीं प्राप्त कर लेता, उसे साधना में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। साधना के अन्तरायों में उन्होंने लोभ और काम [कंचन और कामिनी] को सर्वाधिक महत्व दिया है। साथ ही इन

१. यो.वा. निर्वाण प्रकरण ७८/२०।

भयंकर अन्तरायों को ज्ञान के बाण से मारने की सलाह दी गयी है। सिद्धों की मान्यता है कि वही व्यक्ति इन अन्तरायों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकता है जो सर्वतोभावेन गुरु और ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देता है। वास्तव में सभी अन्तराय आध्यात्मिक साधना मार्ग में अतिशय रूप से बाधक तो हैं ही, जीवन की उन्नति में भी अवरोधक हैं। इस प्रकार ये अन्तराय अभ्युदय और निःश्रेयस को अपने आवेष्टन में दृढ़ता से आबद्ध किये हुए हैं। इनसे मुक्ति सामान्यतः असम्भव ही प्रतीत होती है। इसी लिये सिद्धों ने सद्‌गुरु की शरण में जाने का आदेश दिया है क्योंकि उनकी कृपा से ही साधना के इन अवरोधकों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है और साधक के लिये उसके अपने स्वरूप के अभिज्ञान का द्वार खुल सकता है। अन्तरायों से मुक्त साधना ही परमपद की प्राप्ति करा सकती है अतः इन पर विजय पाना साधना की सिद्धि के लिये अनिवार्य है।

आधार एवं सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. अखण्ड महायोग — म०म०पं० गोपीनाथ कविराज — अखण्ड महायोग संस्थान, वाराणसी, सन् १९८६ ई०।

२. अमनस्कयोग — योगिराज गोरक्षनाथ — गोरखनाथ मन्दिर गोरखपुर वि०स० २०३७।

३. अमरौघ प्रबोध — योगिराज गोरक्षनाथ — सिद्ध साहित्य संशोधन प्रकाशन मण्डल, पूना, सन् १९६७ ई०।

४. अमरौघ शासनम् — सम्पादन- पं० मुकुन्दराम शास्त्री — कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली ग्रन्थांक ३० सन् १९१८ ई०

५. अमृतबिन्दूपनिषद् — मूल — गीता प्रेस, गोरखपुर।

६. अमृतानन्द योगिकृत दीपिका को सेतुबन्ध टीका भास्कर राज कृत/ सम्पादक म०म०पं० गोपीनाथ कविराज — वि०वि० प्रकाशन वाराणसी।

७. अष्टाङ्ग योगसिद्धि — डा० चमनलाल गौतम — संस्कृति संस्थान बरेली, उ०प्र०।

८. ऋग्वेद संहिता — टीका-पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, — नाग पब्लिशर्स १९९८ दिल्ली।

९.	एतरेय उपनिषद्	व्या०-हरिकृष्णदास गोयन्दका	गीता प्रेस, गोरखपुर वि० २०९०।
१०.	एन इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज़्म	डॉ० शशिभूषण दासगुप्त	कलकत्ता, सन् १९५० ई०
११.	कठोपनिषद्	रामरंग शर्मा	भारतीय विद्या प्रकाशन, १९९९ ई०।
१२.	कल्याण-(१)शिवाङ्क (२) योगाङ्क (३)शक्तिअङ्क (४) साधना अङ्क	सम्पा० हरिकृष्ण दास गोयन्द का	गीताप्रेस गोरखपुर
१३.	कश्मीर शैविज़्म पार्ट-I	जगदीशचन्द्र चटर्जी	द कश्मीर सीरीज़ आफ टेक्स्ट एण्ड स्टडीज़, श्रीनगर, सन् १९१४ ई०।
१४.	क्रियायोग	स्वामी हरि हरानन्द गिरि	कराराश्रम, पुरी सन् १९८१ ई०।
१५.	कुण्डलिनी शक्ति	आर्थर एवेलन	तान्त्रिक टेक्स्ट्स कलकत्ता।
१६.	कुलार्णव शक्ति	आर्थर एवेलन	तान्त्रिक टेक्स्ट्स कलकत्ता।
१७.	कौलावली निर्णय	सम्पा०-आर्थर एवेलन	तान्त्रिक टेक्स्ट्स कलकत्ता।
१८.	कौलावली	आर्थर एवेलन	भारतीय विद्या प्रका० दिल्ली वाराणसी, सन् १९८४ ई०।
१९.	कौलज्ञान निर्णय	सम्पा०-डा० प्रबोधचन्द्र बागची	कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ नं-३ कलकत्ता, सन् १९३४ ई०।

२०.	कुण्डलिनी साधना	ब्रह्म मित्र अवस्थी	ओरियन्टल बुक सेन्टर, दिल्ली।
२१.	गीता रहस्य	पं० बालगंगाधर तिलक	तिलक मन्दिर गायक वाड बाडा पूना, सन् १९६९ ई०।
२२.	गोरखनाथ	डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	साहित्य आकादेमी, नई दिल्ली १९९१ ई०।
२३.	गोरखनाथ एवं उनकी परम्परा का साहित्य	डॉ० दिवाकर पाण्डेय	गोरखमन्दिर गोरखपुर
२४.	गोरखदर्शन	अक्षयकुमार बनर्जी	गोरखनाथमन्दिर गोरखपुर वि० २०२८।
२५.	गोरखनाथ: नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	नागरी प्रचारिणी सभा काशी वि० २.३३।
२६.	गोरखनाथ एंड कनफटा योगीज़	जी० डब्ल्यू ब्रिग्स	मोतीलाल बनारसीदास, १९७३ ई०।
२७.	गोरखनाथ और उनका युग	डॉ० रांगेय राघव	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १९६३ ई०।
२८.	गोरखनाथ और नाथ सिद्ध	डॉ० अनुज प्रताप सिंह	गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर।
२९.	गोरखबानी	टीका एवं सम्पा० रामलाल श्रीवास्तव	गोरखमन्दिर गोरखपुर वि०स० २०५१।
३०.	गोरखबानी	सम्पा०-डा० पीताम्बरदत्त बडत्थ्वाल	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, वि०स० १९९९।
३१.	गोरक्षपद्धति	स०-रामलाल श्रीवास्तव	गोरखमन्दिर गोरखपुर वि०२०४१।

३२.	गोरक्षोपनिषद्		गोरखमन्दिर गोरखपुर वि० २०४१।
३३.	गोरक्ष संहिता	सम्पा०– डॉ० वागीश शास्त्री	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि. वाराणसी।
३४.	गोरक्ष संहिता	सम्पा०–डॉ० चमनलाल गौतम	संस्कृति संस्थान बरेली १९९२ ई०।
३५.	गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह	सं०-डॉ० जनार्दन पाण्डेय शास्त्री वागीश	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि० वाराणसी ई०स० १९७३।
३६.	गोरक्ष सिद्धान्तसंग्रह	सं०–म०म० गोपीनाथ कविराज	सरस्वतीभवन टेक्स्ट नं० ११० काशी सन् १९२५ ई०।
३७.	घेरण्ड संहिता	स०–डॉ० चमनलाल गौतम	संस्कृति संस्थान बरेली।
३८.	चर्याचर्यविनिश्चय	बौद्धगान ओ दोहा में संगृहीत	कलकत्ता बगांब्द १३२३।
३९.	चित्शक्ति विलास	स्वामी मुक्तानन्द	गुरुदेव आश्रम, गणेश-पुरी १९४० ई०।
४०.	चौरासी सिद्धों का वृत्तान्त	आचार्य अभयदत्त	श्री प्रकाशक, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ १९७१ ई०।
४१.	छान्दोग्योपनिषद्	व्या० हरिकृष्णदास गोयन्दका	गीता प्रेस गोरखपुर
४२.	जालन्ध्रीपाव की सबदी		नागरी प्रचारिणीसभा काशी।
४३.	तन्त्ररहस्य	डॉ० चमनलाल गौतम	संस्कृति संस्थान बरेली।
४४.	तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन	म०म० गोपीनाथ कविराज	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, सन् १९७७ ई०।

४५.	तन्त्र और सन्त	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	साहित्य भवन, इलाहाबाद।
४६.	तन्त्र महाविज्ञान	श्री राम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली १९९४ ई०।
४७.	तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सन् १९५८ ई०।
४८.	तालपत्र पोथी नं० १८/३४	कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।
४९.	तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि	कविराज गोपीनाथ	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, सन् १९६३ ई०।
५०.	दीक्षा : म०म० गोपीनाथ कविराज	सं०-श्री जगदीश्वर पाल	अनुराग प्रकाशन, वाराणसी।
५१.	दत्तपुराणम्	'वासुदेवी' संस्कृत टीकोपेतम्	कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
५२.	ध्यान के गहरे प्रयोग	डॉ० चमनलाल गौतम	संस्कृति संस्थान, बरेली-१९९० ई०।
५३.	नाथ और संत साहित्य	डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय १९६५ ई०।
५४.	नाथपन्थ	डॉ० शान्ति प्रसाद चन्दोला	गोरखमन्दिर गोरखपुर
५५.	नाथ सम्प्रदाय	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद १९८१।
५६.	नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली	डॉ० कल्याणी मलिक	कलकत्ता वि०वि० १९५० ई०।
५७.	नाथसिद्धों की बानियाँ	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
५८.	नाथपन्थ और निर्गुण संत काव्य	डॉ० कोमलसिंह सोलंगी	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा १९६६।

५९.	पातञ्जल योग दर्शनम्	पं० भगीरथ मिश्र	लखनऊ विश्व विद्यालय, लखनऊ।
६०.	पातञ्जल योग दर्शनम्	श्री सत्य नारायण मिश्र	भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली १९९८।
६१.	पातञ्जल योग सूत्रम्	भोजदेवकृत राजमार्त्तण्ड वृत्ति	भारतीय विद्या प्रकाशन १९९८।
६२.	पुरातत्त्व निबन्धावली	राहुल सांकृत्यायन	
६३.	प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि		गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज ४४ बडौदा सन् १९२९ ई०।
६४.	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास	डॉ० जयशंकर मिश्र	बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादेमी सन् १९८० ई०
६५.	प्राण सांगली	सं० सम्पूरन सिंह	तरनतारन पंजाब।
६६.	प्राचीन भारत का इतिहास	डा० रमाशंकर त्रिपाठी	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९८८।
६७.	प्राणायाम साधना	स्वामी अनन्त भारती	ओरियन्टल बुक सेन्टर, दिल्ली।
६८.	बृहदारण्यकोपनिषद्	व्याख्या-हरिकृष्णदास गोयन्दका	गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०१० वि।
६९.	बौद्धसाहित्य सांस्कृतिक झलक	परशुराम चतुर्वेदी	
७०.	ब्रह्मयामल		गोरखनाथमन्दिर, गोरखपुर।
७१.	भारत के महान योगी	विश्वनाथ मुखर्जी	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
७२.	भारतीय दर्शन	पं० बलदेव उपाध्याय	द्वि०स० काशी सन् १९४५ ई०।

७३.	भारतीय संतपरम्परा और समाज	रांगेय राघव	
७४.	भारतीय संस्कृति और साधना	म०म०पं० गोपीनाथ कविराज	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
७५.	भारतीय साधना की धारा	म०म०पं० गोपीनाथ कविराज	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
७६.	मनुस्मृति (स्मृति सन्दर्भ)		नाग पब्लिशर्स दिल्ली सन् १९८८ ई०।
७७.	महार्थ मञ्जरी	सम्पा०-पं० मुकुन्दराम शास्त्री	कश्मीर संस्कृत सीरीज़ नं ११।
७८.	महार्थ मञ्जरी	सं०- पं० वृजबल्लभ द्विवेदी	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि० वाराणसी।
७९.	महाभारत	अनु०पं० रामनारायण दत्तशास्त्री पाण्डेय	गीता प्रेस, गोरखपुर।
८०.	महापथ	पं० गोपीनाथ कविराज	भारतीय विद्या प्रकाशन, दि० १९९२ ई०।
८१.	मार्कण्डेय पुराण	भूमिका- डॉ० आर०एन० शर्मा	नाग पब्लिशर्स दिल्ली।
८२.	माण्डूक्योपनिषद्	गोयन्दका	गीता प्रेस, गोरखपुर।
८३.	मिडिएबल मिस्टीसिज़्म ऑफ इण्डिया	श्री क्षितिमोहन सेन	कलकत्ता।
८४.	योगतन्त्र साधना	रमेशचन्द्र अवस्थी	वि०वि० प्रकाशन। वाराणसी १९९६ ई०।
८५.	योगतारावली	अनु० रामशंकर भट्टाचार्य	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी १९८९।
८६.	योगबीज	गोरक्षनाथ	योगप्रचारिणी सभा, वाराणसी सं० २००८ वि।

८७.	योगमार्त्तण्ड	गोरक्षनाथ	गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर।
८८.	योग रहस्य	गम्भीरनाथ	गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर।
८९.	योग प्रवाह	डॉ० पीताम्बर दत्त वडथ्वाल	सं०-श्री सम्पूर्णानन्द, काशी सं० २००३ वि०।
९०.	योगवशिष्ठ	टीका-तारकेश्वर प्रसाद	नाग पब्लिशर्स दिल्ली सन् १९८२ ई०।
९१.	योगिसम्प्रदायाविष्कृति	सं० चन्द्रनाथ योगी	अहमदाबाद। सन् १९२४ ई०।
९२.	योगिनीतन्त्र	प्रो० विश्वनारायण शास्त्री	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी सन् १९८२ ई०।
९३.	रुद्रयामल तन्त्र	टीका-आचार्य चन्द्रप्रकाश	संस्कृति संस्थान, बरेली-१९९२ ई०।
९४.	रसार्णवम्-रसतन्त्रम्	इन्द्रदेव त्रिपाठी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी २०३५ वि०।
९५.	ललिता सहस्रनाम	मूल	प्रणवभारती फाउन्डेशन, गुजरात १९९९।
९६.	वर्णरत्नाकर	ज्योतिरीश्वर ठाकुर	एशियाटिक सोसा० बंगाल, १९४० ई०।
९७.	वायु पुराण	प्रो०बी०एम० चतुर्वेदी	नाग पब्लिशर्स दिल्ली।
९८.	विवेक मार्त्तण्ड	सं० रामलाल श्रीवास्तव	गोरखनाथ मन्दिर गोरख० २०४०वि०
९९.	विष्णु पुराण		नाग पब्लिशर्स दिल्ली।

१००. शक्ति एण्ड शाक्त	जान वुडरफ० अनु० मनोज ठाकुर	ओरियन्टल बुक सेन्टर दिल्ली १९९८ ई०।
१०१. शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी	म०म० गोपीनाथ कविराज	वि०वि० प्रकाशन वाराणसी।
१०२. शाबरमन्त्र सिद्धि	डा० चमनलाल गौतम	संस्कृति संस्थान बरेली, १९९६ ई०।
१०३. शिव पुराण	श्री राम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली १९९६ ई०।
१०४. शिव महापुराण		नाग पब्लिशर्स दिल्ली।
१०५. शिव संहिता	अनु० श्रीरामचरण पुरी	वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई।
१०६. शैव कल्ट्स इन नार्द्रन इण्डिया	बी०एस० पाठक	मोतीलाल बनारसी दास दि० १९६० ई०।
१०७. शैव शाक्त स्कूल	म०म० गोपीनाथ कविराज	वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी।
१०८. श्रीमदमृतचरितम्	वैद्य पं० शंकर लाल शर्मा	अमृतनाथ आश्रम शेखावाटी राज०।
१०९. श्रीमद् बुधगिरि चरितम्	वैद्य पं० शंकर लाल शर्मा	सुहाग निकेतन, कलकत्ता ७।
११०. श्रीमद्भगवद्गीता	गोयन्दका	गीता प्रेस, गोरखपुर।
१११. श्रीमद्भागवत	गोयन्दका	गीता प्रेस, गोरखपुर।
११२. सन्तमत में साधना का स्वरूप	डा० प्रताप सिंह चौहान	प्रत्यूष प्रकाशन, कानपुर। सन् १९६२ ई०।
११३. सन्त साहित्य	सुदर्शन सिंह मजीठिया	रूपकमल प्रका० दिल्ली १९६२ ई०।

११४. सन्त साहित्य और साधना	भुवरेश्वरनाथ मिश्र	नेशनल पब्लि० हाउस, दिल्ली सन् १९६२ ई०।
११५. 'सरस्वती' पत्रिका	हीरक जयन्ती विशेषांक	हिन्दी साहि० सम्मे० प्रयाग।
११६. सहज साधना	हजारी प्रसाद द्विवेदी	म०प्र० साहित्य परिषद् भोपाल।
११७. सहजसिद्ध : साधना एवं सर्जना	डॉ० रणजीत कुमार साहा	वि०वि० प्रका० वाराणसी।
११८. सनातन साधना की गुप्तधारा	म०म० गोपीनाथ कविराज	वि०वि० प्रकाशन वाराणसी १९९६ ई०।
११९. सर्वदर्शन संग्रह	सं०-वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर	पूना सन् १९२४ ई०।
१२०. साधना और सिद्धि	पं० धर्म चन्द्र शास्त्री	भारतीय विद्या प्रका० दिल्ली १९९८ ई०।
१२१. सिद्धान्त रहस्यम्	स्वामीजी	पीताम्बरा सं० परिषद, दतिया।
१२२. सिद्ध साहित्य	डा० धर्मवीर भारती	वि०वि० प्रका० वाराणसी
१२३. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	गोरक्षनाथ	राजायोगीश्वरमठ विट्ठल, मैसूर १९६४।
१२४. सिद्ध सिद्धान्त संग्रह	म०म० गोपीनाथ कविराज	सरस्वती भवन टेक्स्ट्स १३ काशी १९२५ ई०।
१२५. स्टडीज़ इन द तन्त्र पार्ट?	डा० प्रबोधचन्द बागची	कलकत्ता सन् १९३८ ई०।
१२६. स्वर्णाकर्षणतन्त्रम्	श्रीमती उषा केसरीमल,	बम्बई-२२।
१२७. स्कन्ध पुराण		लाल बहादुरशास्त्री सं०वि०वि० दिल्ली।

१२८. हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका	सुरेन्द्र कुमार शर्मा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली १९८ई०।
१२९. हठयोग प्रदीपिका	स्वात्माराम योगीन्द्र	क्षेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई २००९ वि।
१३०. हठयोग प्रदीपिका	अनु० पंचमसिंह	श्री सत्गुरु पब्लिकेशन्स इण्डिया १९८१ ई०।
१३१. हिन्दी साहित्य और अर्थ का विकास	अयोध्या सिंह उपाध्याय	किताब महल, इलाहाबाद १९५८ ई०।
१३२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास	राजबली पाण्डेय	नागरी प्रचारिणी सभा वारा० २०१४ वि०।
१३३. हिस्ट्री आफ फिलासफी	डॉ राधाकृष्णन	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९६९ ई०।
१३४. ज्ञानेश्वरी	सन्त ज्ञानेश्वर	
१३५. ज्ञानेश्वर चरित्र	अनु० लक्ष्मण नारायण गर्दे	गोरखपुर सन् १९९० ई०।

लेखिका परिचय

नाम	-	डा० श्रीमती लक्ष्मी शुक्ला
जन्मस्थान	-	आगरा
योग्यता	-	एम०ए० (संस्कृत) एल०टी०, पी०एच०डी०। साहित्या लंङ्कम् (जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त मानद उपाधि)
पद	-	निवर्तमान आचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य स्वशासी महाविद्यालय ग्वालियर (म०प्र०)

भारतीय विद्या प्रकाशन

१, यू॰ बी॰ जवाहर नगर, बंग्लो रोड,
दिल्ली-११०००७.
फोन (०११) ३९७१५७०

पो॰ बॉक्स नं॰ ११०८, कचौड़ी गली,
वाराणसी-२२१००१.
फोन (०५४२) ३९२३७६